(३१) वीर निर्वाण संवत् और जैन काल-गणना

[लेखक—श्री मुनि कल्याणविजय]

महावीर जिन निर्वाण संवत् और जैन कालगणना का अभेद्य संबंध है। निर्वाणसंवत् के संबंध में विचार करते समय विचारक जैन काल-गणना-पद्धतियों को अछूता नहीं छोड़ सकता, इसलिये हम इन दोनों बातों का साथ में विचार करेंगे।

समकालीन व्यक्ति

महावीर के समय-विचार में इनके समकालीन व्यक्तियों की चर्चा करना प्रासंगिक ही नहीं, आवश्यक भी है; क्योंकि इस प्रकार एक दूसरे के सत्तासमय का समन्वय किए बिना हम अपने इष्ट विषय को पुष्ट और सर्वग्राह्य नहीं बना सकते।

यों तो महावीर के समय में अनेक उल्लेखनीय व्यक्ति हो गए हैं, पर हमें यहाँ पर राजा श्रेणिक (बिंबसार), कूणिक (अजातशत्रु), महात्मा गौतम बुद्ध और मंखलि गोशालक के उल्लेख से ही प्रयोजन है; इनका समय-विचार ही प्रस्तुत विवेचन का समर्थक हो सकता है।

बौद्धों के पाली और संस्कृत साहित्य में हमें इस प्रकार वर्णन मिलता है—

'मगध का राजा बिंबसार और भगवान् बुद्ध समवयस्क थे।'

'बुद्ध के उपदेश से बिंबसार बौद्ध धर्म का अनुयायी हुआ।'

'बुद्ध की वृद्धाऽवस्था में बिंबसार को मारकर उसका पुत्र अजातशत्रु मगध का राजा हुआ।'

'पितृहत्या से संतप्त हो अजातशत्रु बुद्ध के पास गया और उनका उपदेश सुनकर वह बौद्ध हो गया।'

'अजातशत्रु के राज्याभिषेक के आठवें वर्ष में महात्मा बुद्ध का निर्वाण हुआ।'

श्रेणिक के साथ महावीर का वयोविषयक क्या संबंध था इस विषय का कोई भी उल्लेख जैन ग्रंथों में हमारे देखने में नहीं आया, पर कितने ही प्रसंगों से ज्ञात होता है कि महावीर से अवस्था में श्रेणिक अधिक थे।

जैनग्रंथकार लिखते हैं कि 'श्रेणिक का पहले नंदा नामक एक श्रेष्ठिपुत्री से पाणिग्रहण हुआ था और उस रानी से उसके अभय-कुमार नामक एक पुत्र भी हुआ था।'

'जिस समय राजकुमार अभय अपने पिता श्रेणिक के प्रधान मंत्री के पद पर था उस वक्त राजा श्रेणिक ने अपने लिये वैशाली के राजा चेटक से उनकी पुत्री की माँग की, पर चेटक ने उसको स्वीकार नहीं किया जिससे श्रेणिक निराश हो उदासीन रहने लगा।

'मंत्री अभय ने राजा को धीरज दिया और वह खुद इस कार्य के लिये कोशिश करने लगा। व्यापारी के वेष में वह वैशाली में जाकर रहा और अनेक प्रपंचों के बाद उसने चेटक की सबसे छोटी राजकुमारी चेल्लना का अपहरण किया और श्रेणिक के साथ उसका विवाह करा दिया।'

'चेटकपुत्री चेल्लना जैन थी और श्रेणिक बौद्ध। अपने पति को जैन धर्म में ले जाने के लिये चेल्लना अनेक उपाय करती थी पर राजा बौद्ध धर्म को छोड़कर जैन होने को तैयार नहीं हुआ।'

'एक बार श्रेणिक उद्यान यात्रार्थ बाहर गया, जहाँ एक युवक जैन श्रमण का तप और त्याग देखकर वह जैन धर्म का श्रद्धालु हो गया।'

इन सब प्रसंगों के बाद 'श्रेणिक को भगवान् महावीर का उप-देश मिला और वह दृढ़ जैनधर्मी हो गया।'

राजा श्रेणिक विषयक उपर्युक्त जैन कथाओं का सारांश यही बताता है कि श्रेणिक को पहले बुद्ध का उपदेश मिला था और अपनी पिछली अवस्था में महावीर के उपदेश से वह जैन हुआ था।

यदि उपर्युक्त घटना के सत्य होने में कोई भी बाधक प्रमाण नहीं है तो इसका अर्थ यही हो सकता है कि करीब ४२

वर्ष की अवस्था में केवल ज्ञान प्राप्त कर भगवान् महावीर जब राजगृह नगर में गए उस समय राजा श्रेणिक वृद्धावस्था को पहुँच चुका था।

जैन सूत्रों में महावीर के साथ श्रेणिक-विषयक जितने प्रसंग उपलब्ध होते हैं उनसे कहीं अधिक उल्लेख अभयकुमार और कूणिक संबंधी मिलते हैं, इससे भी यही ध्वनित होता है कि महावीर का केवली जीवन श्रेणिक ने अधिक समय तक नहीं देखा।

इसी के संबंध में अब हम बौद्धग्रंथों के उल्लेखों पर विचार करेंगे।

बौद्ध साहित्य में बुद्ध के प्रतिस्पर्द्धी तीर्थंकरों का जहाँ जहाँ उल्लेख हुआ है वहाँ वहाँ सर्वत्र निर्ग्रंथ ज्ञातपुत्र का नाम सबके पीछे लिखा गया है[1]। इसका शायद यही कारण हो सकता है कि उनके प्रतिस्पर्धियों में ज्ञातपुत्र—महावीर सबसे पीछे के प्रतिस्पर्धी थे।

---

१ निम्न-लिखित नाम के ६ तीर्थंकर बुद्ध के प्रतिस्पर्द्धी थे, ऐसा बौद्ध लेखक लिखते हैं—१ पूरणकाश्यप, २ मस्करी गोशालक, ३ संजय वैरट्टी पुत्र, ४ अजित केशकंबल, ५ ककुद कात्यायन और ६ निर्ग्रंथ ज्ञातपुत्र।

दिव्यावदान में इस विषय का उल्लेख इस प्रकार है—

"तेन खलु समयेन राजगृहे नगरे षट् पूर्णाद्याः शास्तारोऽसर्वज्ञाः सर्वज्ञमानिनः प्रतिवसंति स्म। तद्यथा—पूरणः काश्यपो मस्करी गोशालिपुत्रः संजयी वैरट्टीपुत्रोऽजितः केशकम्बलः ककुदः कात्यायनो निर्ग्रंथो ज्ञातपुत्रः।"

—दिव्यावदान १२—१४३—१४४।

यही बात क्षेमेंद्र ने "अवदानकल्प-लता" में इस प्रकार कही है—

"पुरे राजगृहाभिख्ये, बिम्बसारेण भूभुजा।
पूज्यमानं जिनं दृष्ट्वा, स्थितं वेणुवनाश्रमे॥ २॥
मात्सर्यविषसंतप्ता मूर्खाः सर्वज्ञमानिनः।
न सेहिरे तदुत्कर्षं, प्रकाशमिव कौशिकाः॥ ३॥

× × × ×

मस्करी संजयी वैरैरजितः ककुदस्तथा।
पूरणज्ञातिपुत्राद्या मूर्खाः क्षपणकाः परे॥ ५॥"

—अवदानकल्पलता, पल्लव १३, ४११।

अजातशत्रु से जिन तीर्थंकरों की मुलाकात हुई थी उनके वर्णन में पालि ग्रंथ 'दीघनिकाय' में महावीर के संबंध में अजातशत्रु के अमात्य के मुख से इस प्रकार वर्णन कराया गया है—

"अञ्ञतरो पि खो राजामच्चो राजानं मागधं अजातसत्तुं वेदेहीपुत्तं एतदवोच 'अयं देव निगंठो नातपुत्तो संघो चेव गणी च गणाचारियो च ञातो यसस्सी तित्थकरो साधुसंमतो बहुजनस्स रत्तस्सू (?) चिरपव्वजितो अद्धगतो वयो अनुपत्ता ति[२]।"

अर्थात् 'उनमें से एक मंत्री वैदेहीपुत्र मगधपति राजा अजातशत्रु से बोला—महाराज! ये निर्ग्रंथ ज्ञातपुत्र आ गए, ये संघ और गण के मालिक हैं, गण के आचार्य और प्रख्यात कीर्तिमान् तीर्थंकर हैं, सज्जनमान्य और बहुत लोगों के श्रद्धास्पद (?) होने के उपरांत ये चिरदीक्षित और अवस्था में अधेड़ हैं।'

यदि यह मान लिया जाय कि उपर्युक्त तीर्थंकरों की मुलाकात का प्रसंग अजातशत्रु के राज्य के प्रथम वर्ष में हुआ तो उस समय महात्मा बुद्ध की उम्र ७२ वर्ष से कम नहीं हो सकती, क्योंकि अजातशत्रु के राजत्वकाल के आठवें वर्ष में वे अस्सी वर्ष की अवस्था में निर्वाण को प्राप्त हुए थे।

इसी प्रसंग पर महावीर को "अर्धगतवयाः" लिखा है, इस उल्लेख से उस समय भगवान् महावीर की अवस्था ५० वर्ष के आसपास होने की सूचना मिलती है।

यदि अनंतरोक्त बौद्ध-उल्लेख और हमारा अनुमान ठीक मान लिया जाय तो यह सिद्ध होगा कि अजातशत्रु के राज्य के बाईसवें वर्ष में भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ क्योंकि महावीर की संपूर्ण आयु ७२ वर्ष की थी और अजातशत्रु के राज्यारंभ के वर्ष में वे ५० वर्ष से ज्यादा उमर के नहीं थे। इस हिसाब से महात्मा बुद्ध के निर्वाण से लगभग १४ वर्ष पीछे महावीर का निर्वाण हुआ होगा।

---

२ दी० नि० पी० टी० रास, भाग १, पृष्ठ ४८—४९।

ऊपर कहा गया है कि बौद्ध लेखकों ने ऐसा लिखा है कि अजातशत्रु के आठवें वर्ष में भगवान् बुद्ध का निर्वाण हुआ तो अब यह देखना चाहिए कि अजातशत्रु के राज्यकाल के साथ महावीर निर्वाण का संबंध भी जैन सूत्रों से सूचित होता है या नहीं, और यदि होता है तो कब।

जैनसूत्रों में लिखा है कि श्रेणिक की मृत्यु के बाद कूणिक और उसके भाई हल्ल और विहल्ल का आपस में, चनक नामक हाथी की मालिकी के बारे में, झगड़ा हुआ। तब हल्ल और विहल्ल हाथी को लेकर अपने नाना राजा चेटक के पास चले गए। कूणिक ने अपने भाइयों को हाथी के साथ वापिस भेज देने का संदेशा देकर चेटक के पास दूत भेजा, पर वैशालीपति ने मगधराज की प्रार्थना स्वीकृत नहीं की। परिणाम-स्वरूप कूणिक ने चेटक पर धावा बोल दिया और घमासान युद्ध करके वैशाली को बरबाद कर दिया। इस युद्ध का जैनसूत्र भगवती, निरयाली आदि में "महाशिला कंटक" नाम से वर्णन है[3]।

अब महावीर और गोशालक के उस झगड़े की ओर ध्यान दीजिए, जिसका भगवती सूत्र के १५ वें शतक में विस्तृत वर्णन दिया है।

'गोशालक श्रावस्ती के उद्यान में तप कर रहा है, उसी अवसर पर महावीर भी श्रावस्ती के कोष्टक चैत्य में जाते हैं। उपदेश सुनने के लिये सभा एकत्र होती है और महावीर धर्मोपदेश करते हैं। उपदेश की समाप्ति पर महावीर के मुख्य शिष्य इंद्रभूति गौतम गोशालक की सर्वज्ञता के संबंध में महावीर से प्रश्न करते हैं, जिसके उत्तर में महावीर गोशालक की सर्वज्ञता का खुल्लमखुल्ला खंडन करते हैं। बात गोशालक के कानों तक पहुँचती है और वह अपने भिक्षुसंघ के

---

३ भगवती सूत्र के ७ वें शतक के ९ वें उद्देश में (पत्र ३१९—३२१) "महाशिला कंटक" और "रथ मूसल" नामक दो संग्रामों का वर्णन है। इन संग्रामों में कोणिक और इसके सहायक वृजिक लोगों का जय और चेटक तथा उनके मददगार काशी कोशल के गणराजाओं का पराजय हुआ था।

साथ महावीर के पास आकर अपनी तरफ से सफाई देता है पर महावीर उसकी एक नहीं सुनते। गोशालक क्रुद्ध होकर महावीर को जलाकर भस्म कर देने के लिये अपनी तेज:शक्ति का प्रयोग करता है, पर इसमें वह सफल नहीं होता। उसकी तैजसशक्ति महावीर के चारों ओर चक्कर लगाकर पीछे उसी के शरीर में प्रवेश करती है। इससे गोशालक व्याकुल होता है और झुँझलाकर महावीर को कहता है "मृत्युप्रार्थी काश्यप मेरे इस तपस्तेज से ग्रस्त हो छः मास में ही तू पित्तज्वर से मर जायगा"[४]।

इस आक्रोश के उत्तर में महावीर उसे कहते हैं—"गोशाल! मैं तेरी इस शक्ति से नहीं मरूँगा, मैं अभी १६ वर्ष तक इस पृथ्वी पर विचरूँगा, पर गोशालक! तू खुद ही अपनी इस तेजोलेश्या से दग्ध होकर आज से सात दिन के भीतर मरणवश होगा।"[५] इसके बाद गोशालक बीमार हो जाता है और सातवें दिन वह सख्त बीमार होकर सान्निपातिक अवस्था के निकट पहुँच जाता है। उस अवस्था में गोशालक अपने शिष्यों को कुछ नई बातें कहता है जिनमें आठ चरिमों की प्ररूपणा मुख्य है। इन आठ चरिमों में गोशालक "महाशिलाकंटक" युद्ध को सातवें नम्बर पर रखता है[६]।

---

४ भगवती के मूल शब्द ये हैं—

"तुमं णं आउसो कासवा! ममं तवेणं तेएणं अन्नाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं मासाणं पित्तज्जरपरिगयसरीरे दाहवक्कंतीरा छउमत्थे चेव कालं करेस्ससि।"

—भगवती श० १५, ६७८—६७६।

५ मूल शब्द इस प्रकार हैं—

"णो खलु अहं गोसाला तव तवेणं तेएणं अन्नाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं जाव कालं करेस्सामि, अहन्नं अन्नाइं सोलसवासाइं जिणे सुहत्थी विहरिस्सामि, तुमं णं गोसाला अप्पणा चेव सएणं तेएणं अन्नाइट्ठे समाणे अंतो सत्त रत्तस्स पित्तज्जरपरिगयसरीरे जाव छउमत्थे चेव कालं करेस्ससि।"

—भगवती श० १५, ६७८—६७६।

६ आठ चरिमों (अंतिम पदार्थों) के प्ररूपणा संबंधी भगवती के शब्द इस प्रकार हैं—

हमारे इस विवेचन का प्रयोजन यह है कि अजातशत्रु के मगध का राज्यसिंहासन प्राप्त करने के बाद 'महाशिला कंटक" युद्ध हुआ और उसके बाद गोशालक का मरण हुआ, क्योंकि मरते समय कहे हुए आठ चरिमों में वह इस युद्ध को भी गिनाता है, और गोशालक के मरण के उपरांत करीब १६ वर्ष तक महावीर जीवित रहे। इसका तात्पर्य यह निकला कि भगवान् महावीर अजातशत्रु की राज्यप्राप्ति के १६ वर्ष से भी अधिक समय तक जीवित रहे थे और बुद्ध उसके राज्यकाल के ८ वें वर्ष में ही देहमुक्त हो चुके थे।

बुद्ध की जीवित अवस्था में ज्ञातपुत्र के कालधर्म-सूचक बौद्ध उल्लेख भी मिलते हैं। उन्हें भी देखना चाहिए।

ऊपर देखा गया है कि महावीर का निर्वाण बुद्ध निर्वाण के पीछे हुआ था, परंतु बौद्धों के "दीघनिकाय" और "मज्झिमनिकाय" में कुछ ऐसे उल्लेख भी पाए जाते हैं, जो बुद्ध के जीवित समय में ही ज्ञातपुत्र महावीर के निर्वाण की ओर संकेत करते हैं। हम उन पाली शब्दों को यहाँ उद्धृत करके देखेंगे कि इनका तात्पर्य क्या है।

मज्झिमनिकाय में लिखा है—

"एकं समयं भगवा सक्केसु विहरति सामगामे। तेन खो पन समयेन निगन्थो नातपुत्तो पावायं अधुना कालकतो होति। तस्स कालकिरियाय भिन्ननिगंथद्वेधिक जाता, भंडनजाता, कलहजाता, विवादापन्ना, अण्णमण्णं मुखसत्तीहिं वितुदता विहरंति[७]।"

अर्थात् 'एक समय भगवान् (बुद्ध) शाक्य देश के सामगाम में थे तब (उन्होंने सुना कि) पावा में निर्ग्रंथ ज्ञातपुत्र ने काल

" × × × इमाइं अट्ठ चरिमाइं पन्नवेति, तंजहा—चरिमे पाणे, चरिमे गेये, चरिमे नट्टे, चरिमे अंजलिकम्मे, चरिमे पोक्खलसंवट्टए महामेहे, चरिमे सेमणाए गंधहत्थी, चरिमे महासिला कंटए संगामे अहं च णं इमीसे ओसप्पीणीए चउवीसाए तित्थकराणं चरिमे तित्थकरे सिज्झिस्सं जाव अंतं करेस्संति।"

—भगवती १५, पृ० ६८०।

७ मज्झिमनिकाय भाग २, पृष्ठ १४३।

किया और (उसके शिष्य) निर्ग्रंथों में दो दल हो गए हैं। यही नहीं, वे आपस में लड़ते-झगड़ते हैं, और मुँह से एक दूसरे को भला बुरा भी कहते फिरते हैं।'

इसी आशय का पाठ 'दीघनिकाय' के पासादिक सुत्तंत में भी है और वहाँ पर निर्ग्रंथ किस तरह एक दूसरे का खंडन करते हैं इसका वर्णन भी दिया है।

इन उल्लेखों के ही आधार पर डा० विंसेंट स्मिथ आदि अनेक विद्वानों का कथन है कि महात्मा बुद्ध की जीवित दशा में ही महावीर का निर्वाण हो चुका था।

डा० जेकोबी कहते हैं—बौद्ध लेखक जिस पावा में महावीर का काल प्राप्त होना लिखते हैं, वह स्थान महावीर की निर्वाणभूमि से भिन्न है, इसलिये इस विषय में यह उल्लेख प्रामाणिक नहीं हो सकता।

डा० जेकोबी जिस कारण से इन उल्लेखों को गलत समझते हैं उसी कारण से मैं इन्हें ठीक समझता हूँ। बौद्धों के ये गलत उल्लेख ही बुद्ध और महावीर के निर्वाण समय के वास्तविक अंतर को प्रदर्शित करने में सहायक हो रहे हैं। क्योंकि उक्त उल्लेखों का संबंध महावीर के निर्वाण के साथ नहीं पर उस बीमारी के साथ है जो गोशालक के साथ झगड़ा होने के बाद शुरू हुई थी और छः मास तक रही थी। महावीर की इस बीमारी का अंतिम स्वरूप बड़ा भयंकर था। लोगों को उनके बचने की आशा कम हो गई थी। जो कोई उनकी बीमारी की हालत देखता और सुनता वह गोशालक के भविष्य कथन को याद करता और कहता "सचमुच ही श्रमण भगवान् महावीर मंखलि गोशालक के तपस्तेज से व्याप्त हुए हैं, और छः मास के भीतर ही पित्तज्वर से काल कर जायँगे[८]।"

---

[८] महावीर की इस बीमारी के हाल और जनप्रवाद का भगवती में नीचे लिखा वर्णन दिया है—

एक बार मेंढियगाम-निवासी प्रजा इस प्रकार कल्पना करती हुई महावीर के पास से अपने स्थान की ओर जा रही थी। मार्ग के निकट मालुका कच्छ के पास तप करते हुए महावीर-शिष्य सिंहमुनि ने यह जन-संवाद सुना और उनका ध्यान विचलित हो गया। इतना ही नहीं, तपोभूमि से निकलकर वे बच्चे की भाँति जोर से रो पड़े[६]। गाँव की ओर जाते हुए जन समवाय ने सिंहमुनि के इस रुदन को सुनकर "महावीर कालप्राप्त हो गए" यह मान लिया हो, और आगे से आगे बढ़ती हुई यह अफवाह बुद्ध के कानों तक पहुँच गई हो तो इसमें आश्चर्य क्या है। मेंढियगाम पावा के पास ही होगा इस कारण से मेंढियगाम को लोगों ने पावा मान लिया हो, अथवा

"तएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स सरीरगंसि विउले रोगायंके पाउब्भूए उज्जले जाव दुरहियासे पित्तज्जरपरिगयसरीरे दाहवक्कंतीए यावि होत्था। अवियाइ लोहियवचाइं पकरेइ। चाउवण्णं वागरेति एवं खलु समणे भगवं महावीरे गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स तवेणं तेएणं अन्नाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं मासाणं पित्तज्जर परिगयसरीरे दाहवक्कंतीए छउमत्थे चेव कालं करेस्सति।"

—भगवती १५, ६८६।

६ महावीर के शिष्य सिंह अनगार को महावीर की अंतिम बीमारी कैसी भयंकर जान पड़ी थी और वे इसकी चिंता से बच्चे की तरह किस तरह रो पड़े थे इसका वर्णन भी दर्शनीय है—

"तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी सीहे नामं अणगारे पगइभद्दए जाव विणीए मालुया कच्छस्स अदूरसामंते छट्ठं छट्ठेणं अनिक्खित्तेणं २ तवो कम्मेणं उड्ढं बाहा जाव विहरति। तएणं तस्स सीहस्स अणगारस्स झाणंतरियाए वट्टमाणस्स अयमेयारूवे जावसमुप्पज्जित्था— एवं खलु ममं धम्मायरियस्स धम्मोवदेसगस्स समणस्स भगवओ महावीरस्स सरीरगंसि विउले रोगायंके पाउब्भूए उज्जले जाव छउमत्थे चेव कालं करिस्सति, वदिस्संति य णं अन्नतित्थिया छउमत्थे चेव काल गए, इमेणं एयारूवेणं महया मणोमाणसिएणं दुक्खेणं अभिभूए समाणे आयावणभूमीओ पच्चोरुभइ आया० जेणेव मालुयाकच्छए तेणेव उवा २ मालुयाकच्छगं अंतो २ अणुपविसइ मालुया० २ महया २ सद्देणं कुहुकुहुस्स परुन्ने।"

—भगवती १५, ६८६।

महावीर का पावा में निर्वाण होने से पिछले बौद्ध लेखकों ने इन उल्लेखों में 'पावा' शब्द लिख दिया हो तो आश्चर्य नहीं है। कुछ भी हो, उक्त उल्लेखों का कारण-विषय महावीर का निर्वाण नहीं पर उनकी सख्त बीमारी के समय की इस प्रकार की कोई अफवाह ही है।

हमारे इस अनुमान के समर्थक इन्हीं उल्लेखों के पिछले वे शब्द हैं जो महावीर के शिष्यों में झगड़ा होने की सूचना देते हैं।

महावीर की विद्यमानता से लेकर आज तक जैन श्रमणसंघ में जो जो छोटे बड़े मतभेद हुए हैं, उन सबका इतिहास और स्मृतियाँ जैन सूत्रग्रंथों में दी हुई मिलती हैं[१०]।

महावीर को केवल ज्ञान हुए १४ वर्ष बीत चुके थे तब सबके पहले निर्ग्रंथ जमालि ने महावीर के साथ विरोध खड़ा किया और वह उनसे अलग हो गया था, जिसका जैनग्रंथों में विस्तृत वर्णन है।

महावीर के केवलि जीवन के सोलहवें वर्ष में भी तिष्यगुप्त नामक एक साधु ने कुछ मतभेद खड़ा किया था, जिसका सविस्तर वर्णन जैन लेखकों ने किया है।

महावीर की जीवित अवस्था में उपर्युक्त दो साधु उनसे विरुद्ध हुए थे, और इनके निर्वाण के बाद भी २१४, २२०, २२८, ५४४, ५८४ इन वर्षों में क्रमशः आषाढ़, अश्वमित्र, गांगेय, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल ये पाँच पुरुष जैन प्रवचन में भेद करनेवाले हुए जिन्हें जैन शास्त्रकारों ने "निह्नव" नाम से उद्घोषित किया है।

यदि महावीर के निर्वाण के अनंतर ही निर्ग्रंथ श्रमणसंघ में जबरदस्त मतभेद पड़ा होता—जैसा कि बौद्धों ने लिखा है—तो जैन ग्रंथों में इसका अवश्य ही उल्लेख होता, पर जैन ग्रंथों में इस

---

१० जमालि संबंधी संपूर्ण वृत्तांत भगवती सूत्र के नवें शतक के ३३ वें उद्देश में दिया है और आवश्यक निर्युक्ति विशेषावश्यक भाष्य, आवश्यक चूर्णि तथा उत्तराध्ययनवृत्ति आदि प्राचीन ग्रंथों में जमालि से लेकर गोष्ठा-माहिल पर्यंत के ७ निह्नवों की उत्पत्ति लिखी है। स्थानांग और औपपातिक मूल सूत्र में भी इन सात निह्नवों के नाम लिखे मिलते हैं।

विषय की सूचना तक नहीं है, इससे विपरीत जैन साहित्य में निर्वाण से १६० वर्ष पर्यंत महावीर की निर्ग्रंथ-परंपरा में परम-शांति और सुलह रहने के उल्लेख मिलते हैं,[११] इसलिये हम बौद्धों

११ स्थविर यशोभद्र पर्य्यंत महावीर का धर्मशासन एकाचार्य्य की सत्ता में ही रहा। स्थविर यशोभद्र निर्वाण संवत् १४८ में संभूतिविजय और भद्रबाहु नामक अपने दो शिष्यों को उत्तराधिकारी बनाकर स्वर्गवासी हुए। तब से कभी कभी एक पाट पर दो दो आचार्य्य होने की प्रवृत्ति चली, पर इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि वे दोनों उत्तराधिकारी आपस में निरपेक्ष हो जाते थे। बात यह थी कि जब तक बड़ा पट्टधर जीवित रहता, छोटे पट्टधर का संघ के कार्य्य में हस्तक्षेप नहीं होता था। यशोभद्र के दो पट्टधरों में संभूतिविजय जब तक जीते थे, भद्रबाहु का संघ के कार्य्य में कुछ भी अधिकार नहीं था। नि० सं० १५६ में जब संभूतिविजयजी स्वर्गवासी हुए तभी भद्रबाहु को संघस्थविर का पद प्राप्त हुआ। नि० सं० १६० के आसपास पाटलिपुत्र में संघ एकत्र हुआ और भद्रबाहु को संघ समवसरण में बुलाया गया, पर उन्होंने इनकार कर दिया। इस पर संघ ने भद्रबाहु को न केवल धमकी ही दी बल्कि उनका अल्प समय के लिये बहिष्कार तक कर दिया, पर स्थविरजी जल्दी सम्हल गए और संघ से समझौता हो गया। इसके सिवा भद्रबाहु के समय में जैन श्रमण संघ में कोई झगड़ा नहा हुआ। इस समय में दक्षिण के और उत्तर के जैन साधुओं में भिन्नता पड़ने की बात कही जाती है पर इसका कोई प्रमाण नहीं है। दिगंबरीय साहित्य में भद्रबाहु के दक्षिण में जाने और स्थूलभद्रादि कतिपय साधुओं के न जाने की जो कथाएँ लिखी गई हैं वे केवल अर्वाचीन कल्पनाएँ हैं। इस विषय में आधारभूत मानी जाती दिगम्बरीय बातें कैसी अव्यवस्थित और लचर हैं यह नीचे के विवरण से ज्ञात होगा।

श्रवण बेलगोल की पार्श्वनाथ बस्ती के शक संवत् ५२२ के आसपास लिखे हुए एक शिलालेख में भद्रबाहु के वचन से उत्तरापथ से दक्षिणापथ की ओर जैनसंघ के जाने का उल्लेख मिलता है, पर उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि भविष्यवेदी भद्रबाहु भी उसके साथ दक्षिण में गए थे। इसके उपरान्त उस लेख में रामल्य, स्थूलभद्र या भद्राचार्य्य का उल्लेख भी नहीं है।

इसके बाद इस प्रसंग का उल्लेख शक सं० ८५३ में रचे हुए हरिषेण के 'बृहत्कथाकोष' में इस प्रकार मिलता है—'एक समय विहार करते हुए भद्रबाहु उज्जैनी नगरी में पहुँचे और शिप्रा नदी के तीर उपवन में ठहरे। इस समय उज्जैनी में जैन धर्मावलंबी राजा चंद्रगुप्त अपनी रानी सुप्रभा सहित राज्य करता था। जब भद्रबाहु स्वामी आहार के निमित्त नगरी में गए तब

के प्रस्तुत उल्लेख महावीर के निर्वाण से नहीं पर उनकी उक्त बीमारी और जमालीवाली तकरार से संबंधित मानते हैं। निर्ग्रंथों

एक गृह में झूले में झूलते हुए बालक ने चिल्लाकर उन्हें निकल जाने को कहा। इस निमित्त से आचार्य्य ने जाना कि बारह वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़नेवाला है। इस पर उन्होंने संघ को बुलाकर सब हाल निवेदन किया और कहा कि अब तुम लोगों को दक्षिण देश को चले जाना चाहिए, मैं स्वयं यहीं ठहरूँगा, क्योंकि मेरी आयु अब क्षीण हो चुकी है (अहमत्रैव तिष्ठामि, क्षीणमायुर्ममाऽधुना)।'

इसी कथाकोष में चंद्रगुप्त का भद्रबाहु के पास दीक्षा लेकर विशाखाचार्य्य के नाम से प्रसिद्ध होना और गुरु के आज्ञानुसार संघ को लेकर दक्षिण के पुन्नाट देश में जाना लिखा है। साथ ही रामिल्ल, स्थूलवृद्ध और भद्राचार्य्य को अपने अपने संघों सहित सिंधु आदि देशों में भेजने का वर्णन है। और इसके बाद भद्रबाहु के अवन्ती के भाद्रपद नामक स्थान पर समाधिमरण करने का उल्लेख किया गया है।

"प्राप्य भाद्रपदं देशं श्रीमदुज्जयनीभवम्।
चकाराऽनशनं धीरः स दिनानि बहून्यलम्॥
समाधिमरणं प्राप्य भद्रबाहुर्दिवं ययौ॥"

भट्टारक रत्ननंदि-निर्मित भद्रबाहुचरित्र में, जो अनुमानतः विक्रम की पंद्रहवीं या सोलहवीं सदी का ग्रंथ है, लिखा है कि 'निमित्त ज्ञान से भावी द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष को जानकर भद्रबाहु अपने बारह हजार संघ के साथ दक्षिण देश में चले गए, पर रामल्य, स्थूलभद्रादि बारह हजार साधु उज्जैनी के श्रावक संघ के आग्रह से दुर्भिक्ष के समय वहीं ठहर गए। दुर्भिक्ष के अंत में दक्षिण देश से भद्रबाहु के पट्टधर विशाखाचार्य्य कान्यकुब्ज के उद्यान में आए, तब रामल्य स्थूलभद्रादि ने अपने साधुओं को उनके पास भेजा। साधुओं ने उनकी भक्तिपूर्वक वंदना की, पर विशाखाचार्य्य ने उनको वस्त्रधारी देखकर प्रति-वंदना नहीं की। साधु लज्जित हो अपने स्थान पर गए। रामल्य, स्थूलभद्र और स्थूलाचार्य्य इकट्ठे होकर विचार करने लगे कि अब क्या करना चाहिए। वृद्धस्थूलाचार्य्य ने कहा—"दुर्भिक्ष के वश जो आचार में शिथिलता आ गई है उसे अब छोड़ देना चाहिए और मूल मार्ग को स्वीकार कर लेना चाहिए।" इस पर कितनेक भव्यात्माओं ने तो मूल मार्ग स्वीकार कर लिया पर कितनेक युवा साधुओं को वृद्ध की यह सलाह अच्छी नहीं लगी, और वे कहने लगे कि इस पंचम काल में अब चौथे काल की दुष्कर क्रिया नहीं पाली जा सकती। इसलिये जो मार्ग स्वीकार किया है वही योग्य है। स्थूलाचार्य्य के ज्यादा

के द्वैधीभाव और एक दूसरे की खटपट का बौद्धों ने जो वर्णन दिया है वह भगवती सूत्र में वर्णित जमालि और गौतम इंद्र-भूति के विवाद का विकृत स्वरूप है।[१२]

कहने पर वे उन स्थविर पर एकदम क्रुद्ध हुए और दंडों से मारकर उन्होंने स्थूलाचार्य्य को फेंक दिया।

शक सं० १७२१ में बने हुए देवचंद्र के राजावली कथा नामक कन्नड़ ग्रंथ में भी भद्रबाहु और चंद्रगुप्त की कथा है, जो कि उपर्युक्त भद्रबाहुचरित्र के समान ही है। हाँ, इसमें कुछ कुछ नए संस्कार भी हैं, जैसे—भद्रबाहु-चरित्र में उज्जैनी के राजा चंद्रगुप्त को सोलह स्वप्न होते हैं, पर राजावली कथा के लेखक ने वे ही सोलह स्वप्न पाटलिपुत्र के राजा चंद्रगुप्त को दिखाए हैं। इन एक दूसरे से भिन्न कथानकों को देखते हुए हमें यही कहना पड़ता है कि भद्रबाहु की प्रमुखता में दक्षिण में जाने के बाद स्थानिक श्रमणसंघ के वस्त्र-धारण कर लेने से दोनों पार्टियों के भिन्न हो जाने की जो विद्वानों की सम्मति है वह केवल आधुनिक दंतकथाओं के ऊपर अवलंबित है। जैन संघ के दक्षिण में जाने का सबसे पुराना उल्लेख पार्श्वनाथ वस्ती के उक्त लेख में है, पर उसमें भद्रबाहु के दक्षिण में जाने का कोई उल्लेख नहीं है। और उसमें उल्लिखित भद्रबाहु श्रुतकेवली नहीं पर उनके परंपराभावी दूसरे नैमित्तिक भद्रबाहु हैं।

विक्रम की दशम सदी के बृहत्कथाकोष के ग्रंथकार भद्रबाहु को श्रुतकेवली तो लिखते हैं पर उनके दक्षिण में जाने से साफ इनकार कर देते हैं और वे चंद्रगुप्त को ही विशाखाचार्य के नाम से भद्रबाहु के संघ का मुखिया बनाकर दक्षिण में और रामिल्ल, स्थूलवृद्ध तथा भद्राचार्य को अपने अपने संघ के साथ सिंधु आदि देशों में भेजवाते हैं।

भद्रबाहु-चरित्रकार इससे भी आगे बढ़कर स्थूलवृद्ध को स्थूलभद्र और भद्राचार्य को स्थूलाचार्य बना लेते हैं और भद्रबाहु को दक्षिण में पहुँचाकर अनशन कराते हैं।

राजावली कथाकार रत्ननंदि की सब बातों को स्वीकार कर लेने के उपरांत चंद्रगुप्त को पाटलिपुत्र का राजा ठहराने की चेष्टा करता है। इस प्रकार आगे से आगे बढ़ाई हुई बातों को हम 'प्रमाण' न कहकर दंतकथा मात्र या मनगढ़ंत कल्पना ही कह सकते हैं।

१२ चंपा के पूर्णभद्र चैत्य में महावीर के सामने आकर जिस समय जमालि आप केवली होने की शेखी हाँक रहा था उस समय महावीर के मुख्य शिष्य

गोशालक की तैजस शक्ति-जनित महावीर की सख्त बीमारी, जमालि का महावीर से विरुद्ध होकर जुदा होना, जमालि के ५०० शिष्यों में दो मत होकर आधे का जमालि को छोड़कर महावीर के पास आना,[१३] जमालि का महावीर के पास जाकर आत्मश्लाघा

इंद्रभूति-गोतम ने उससे जो प्रश्नोत्तर किए थे उनका वर्णन भगवती में इस प्रकार है—

"तएणं भगवं गोयमे जमालिं अणगारं एवं वयासीणो खलु जमाली! केवलिस्स णाणे वा दंसणे वा सेलंसि वा थंभंसि वा थूभंसि वा आवरिज्जइ वा णिवारिज्जइ वा जइ णं तुम्मं जमाली उपण्णणाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली भवित्ता केवलीअवक्कमणेणं अवक्कंते ता णं इमाइं दो वागरणाइं वागरेहि सासए लोए जमाली, असासए लोए जमाली ?, सासए जीवे जमाली, असासए जीवे जमाली ? । तएणं से जमाली अणगारे भगवया गोयमेणं एवं वुत्ते समाणे संकिए कंखिए ० जाव कलुससमावण्णे जाएयाविहोत्था, णो संचाएइ भगवओ गोयमस्स किंचिवि पामोक्खमाइक्खित्तए तुसणीए संचिट्ठइ ।"

बौद्ध लेखकों ने निर्ग्रंथों के विषय में जो लिखा है कि वे एक दूसरे के साथ लड़ते भिड़ते हैं, वह इसी विवाद की विकृत सूचना है।

१३ जमालि की नवीन मतकल्पना को कितनेक साधुओं ने तो स्वीकार कर लिया पर कितनेकों ने उसे स्वीकार नहीं किया। जिन्होंने जमालि के नए मत को मंजूर नहीं किया था वे जमालि को छोड़कर महावीर के पास चले गए थे। इस विषय का भगवती का उल्लेख इस प्रकार है—

"तएणं तस्स जमालिस्स अणगारस्स एवमाइक्खमाणस्स ० जाव परूवेमाणस्स अत्थे गइया समणा णिग्गंथा एयमट्ठं सद्दहंति पत्तियंति रोयंति अत्थे गइया समणा णिग्गंथा एयमट्ठं णो सद्दहंति णो पत्तियंति णो रोयंति, तत्थ णं जे समणा णिग्गंथा जमालिस्स अणगारस्स एयमट्ठं सद्दहंति पत्तियंति रोयंति ते णं जमालिं चेव अणगारं उपसंपज्जित्ता णं विहरंति। तत्थ णं जे ते समणा णिग्गंथा जमालिस्स अणगारस्स एयमट्ठं णो सद्दहंति णो पत्तियंति णो रोयंति ते णं जमालिस्स अणगारस्स अंतियाओ कोट्ठयाओ चेइयाओ पडिणिक्खमंति पडिणिक्खमइत्ता पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दुइज्जमाणे जेणेव चंपाणयरी जेणेव पुण्णभद्दे चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं वंदंति णमंसंति वंदित्ता णमंसित्ता समणं भगवं महावीरं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति।"

—भगवती ९—३३।

करना और इंद्रभूति गौतम का उसके साथ विवाद ये सब भगवान् महावीर के केवलिजीवन के १४ वें वर्ष के अंत में बनी हुई कल्पनाएँ हैं, और इन्हीं सब कल्पनाओं की विकृत सूचना पालिग्रंथों के उक्त उल्लेखों में संगृहीत है।

'जिस वर्ष में ज्ञातपुत्र के मरण (मरण की अफवाह) के समाचार सुने उसके दूसरे ही वर्ष बुद्ध का निर्वाण हुआ' बौद्धों के इस आशय के लेख से हम बुद्ध और महावीर के निर्वाण समय के अंतर को ठीक तौर से समझ सकते हैं।

केवल ज्ञान के चौदहवें वर्ष के मार्गशीर्ष मास में श्रावस्ती के सालकोष्टक उद्यान में महावीर और गोशालक के बीच झगड़ा हुआ और वैशाख मास में जब महावीर मेंढियगाम के सालकोष्टक चैत्य में थे तब सख्त बीमार होकर उनके मरण की अफवाह उड़ी, और करीब इसी अर्से में शिष्य जमालि ने श्रावस्ती के कोष्टक चैत्य में महावीर

इसी संबंध में आवश्यक निर्युक्तिकार ने लिखा है कि आखिर में ढंक श्रावक के समझाने पर जमालीमतावलंबी सब साधु-साध्वी जमालि को छोड़कर महावीर के पास चले गए थे, इस विषय की संग्रह गाथा यह है—

"जिट्ठा सुदंसण जमालिणोज्ज सावत्थितिंदुगुज्जाणे।
पंचसया य सहस्सं ढंकेण जमालि मोत्तूणम्॥ २३०७॥"

खुद जमालि के लिये भगवती में लिखा है कि जमालि मिथ्या आग्रह और असत्कल्पनाओं से अपनी आत्मा को और दूसरों को बहकाता हुआ बहुत वर्षों तक श्रामण्य पालता रहा। (बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिणिवेसेहिं य अप्पाणं च परं च तदुभयं च वुग्गाहेमाणे वुप्पाएमाणे बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणइ)—भगवती ६—३३।

एक जगह लिखा है, 'जमालि अनगार अपने आचार्य और उपाध्याय का प्रत्यनीक—शत्रु—हुआ, वह अपने आचार्य उपाध्याय का अपयश करनेवाला हुआ। (जमाली णं अणगारे आयरियपडिणीए उवज्झायपडिणीए आयरियउवज्झायाणं अयसकारए)—भगवती ६, ४८६।

इन जैन उल्लेखों से यह बात सिद्ध है कि जमालि के मतभेद से निर्ग्रंथ संघ में एक अनिष्ट-चर्चा खड़ी हो गई थी। इसी चर्चा और भिन्नता को लक्ष्य करके निर्ग्रंथों के विषय में "भिन्नानिग्गंथद्वेधिक जाता" ये शब्द बौद्ध पिटकों में लिखे गए हैं जो खास करके जमालि के शिष्यों पर घटित होते हैं।

के वचन का उत्थापन किया[१४] और उसके साधुओं में दो पार्टियाँ हुईं। इसके बाद ठीक एक वर्ष में वैशाख सुदि १५ के दिन महात्मा बुद्ध ने देह छोड़ा। अब तक महावीर को केवल ज्ञान हुए पंद्रह वर्ष संपूर्ण होकर सोलहवें वर्ष के ५ दिन व्यतीत हुए थे। इसके बाद

---

१४ जैन मत में भेद डालनेवाले जो सात निह्नव हुए उन सब में पहला 'जमालि' था, यह बात पहले ही कह दी है। जमालि ने जो मत निकाला था उसका नाम 'बहुरत' था। इस बहुरत मत की उत्पत्ति का निरूपण करते हुए आवश्यक नियुक्तिकार लिखते हैं—'महावीर को केवल ज्ञान उत्पन्न हुए १४ वर्ष हुए तब श्रावस्ती में 'बहुरत' दर्शन की उत्पत्ति हुई।' देखो गाथा—

"चोद्दस वासाणि तया, जिणेण उप्पाडियस्स नाणस्स।
तो 'बहुरयाण' दिठ्ठी, सावत्थीए समुप्पन्ना ॥ २४१ ॥"

महावीर का केवली जीवन सौरगणनानुसार २९ वर्ष ५ मास और २७ दिन का था। इस हिसाब से जमालि के मतभेद के बाद महावीर १५ वर्ष ५ मास २७ दिन तक जीवित रहे। उधर भयंकर बीमारी से अनिष्ट कल्पना करते और रोते हुए सिंह अनगार को अपने पास बुलाकर आश्वासन देते हुए महावीर कहते हैं 'हे सिंह! तू मेरे मरण की कल्पना कर क्यों दुःख करता है? मैं इस समय नहीं मरूँगा, अभी मैं साढ़े पंद्रह वर्ष तक इस पृथिवी पर विचरूँगा।' ("तंनो खलु अहं सीहा! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स तवेणं तेएणं अन्नाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं मासाणं कालं जावं कालं करेस्सं, अहंनं अन्नाइं अद्धसोलसवासाइं जिणे सुहत्थी विहरिस्सामि।")

—भगवती १५,६८६।

इन शास्त्रीय लेखों से सिद्ध होता है कि जमालि का मतभेद और महावीर की भयंकर बीमारी ये दोनों घटनाएँ समकालीन थीं।

भगवान् महावीर गोशालक के साथ झगड़ा होने के बाद १६ वर्ष तक जीवित रहे। भगवती के इस सोलह वर्ष के उल्लेख का जो अर्थ 'बराबर सोलह' वर्ष किया जाय तो निर्वाण के पहले के सतरहवें वर्ष के कार्त्तिक मास में झगड़े वाला प्रसंग आता है, पर हम देखते हैं कि केवल ज्ञान होने के बाद महावीर ने श्रावस्ती में एक भी चातुर्मास्य नहीं किया था इसलिये यह प्रसंग चौमासे में तो नहीं बना, पर चौमासा उतरते ही महावीर मिथिला अथवा वैशाली से श्रावस्ती गए हैं और झगड़ा लगभग मार्गशीर्ष में ही हो गया है, इसी लिये महावीर उस समय अपना १६ वर्ष का जीवित रहना बताते हैं।

महावीर १४ वर्ष ५ मास और १५ दिन जीवित रहे[१५]। बुद्ध का ८० वर्ष की वय में निर्वाण हुआ और उसके बाद करीब साढ़े चौदह वर्ष में महावीर का ७२ वर्ष की उमर में निर्वाण हुआ। बुद्ध और महावीर, दोनों ने ३०-३० वर्ष की उमर में दीक्षा ली। बुद्ध ने अपनी ३६ वर्ष की अवस्था में बोधि प्राप्त करके धर्मप्रचार करना शुरू किया, तब महावीर ने अपनी ४२ वर्ष से भी अधिक अवस्था में केवल ज्ञान प्राप्त कर धर्मोपदेश देना प्रारंभ किया। इन सब प्रसंगों से हम इस प्रकार निष्कर्ष निकाल सकते हैं—

बुद्ध २२ वर्ष के हुए तब महावीर का जन्म हुआ।

३० वर्ष की अवस्था में जब बुद्ध ने प्रव्रज्या ग्रहण की तब महावीर ८ वर्ष के होकर पाठशाला में अध्ययनार्थ गए।

३६ वर्ष की अवस्था में बोधि प्राप्त कर बुद्ध ने बौद्ध धर्म का प्रचार शुरू किया उस समय महावीर १४ वर्ष के थे।

बुद्ध ५२ वर्ष के हुए तब महावीर ने ३० वर्ष की अवस्था में दीक्षा ग्रहण की।

बुद्ध ६५वें वर्ष में थे तब महावीर को ४३ वें वर्ष में केवल ज्ञान प्राप्त हुआ।

बुद्ध को ८८वाँ वर्ष चलता था तब महावीर की अवस्था ५६ वर्ष और ६ मास के आसपास थी और इन्हें केवल ज्ञान हुए प्रायः १३ वर्ष और ७ मास हुए थे। इस समय में महावीर और गोशालक के बीच झगड़ा हुआ और इसके बाद ५ मास के अर्से में जमालि ने मतभेद खड़ा किया और गोशालक की तेजोलेश्या-जनित ताप के असर से महावीर सख्त बीमार हुए।

---

१५ वैशाख सुदी दशमी को महावीर को केवल ज्ञान हुआ और कार्तिक वदि अमावस्या को उनका निर्वाण हुआ, इस सामान्य गणना से महावीर का केवलीजीवन २९ वर्ष ५ मास और २० दिन का मानकर आयुष्य के संबंध में यहाँ उल्लेख किए गए हैं।

८० वर्ष की अवस्था में महात्मा बुद्ध का देहांत हुआ तब महावीर को ५८वां वर्ष चलता था। बुद्ध का देहांत वैशाख सुदि १५ पूर्णिमा को हुआ था और महावीर का कार्तिक वदि अमावस्या को। इस हिसाब से बुद्ध-निर्वाण के बाद बराबर १४ वर्ष ५ मास और १५ दिन में महावीर का निर्वाण हुआ।

बौद्ध और पौराणिक कालगणना

बुद्ध-निर्वाण-समय का प्रतिपादन करते हुए बौद्ध पालिग्रंथ 'महावंश' और 'दीपवंश' में मगध के शैशुनाग, नंद और मौर्य राजाओं के राजत्वकाल की अवधियाँ दी हैं और बुद्ध-निर्वाण के २१८ वें वर्ष में अशोक का राज्याभिषेक होना ठहराया है।

पुराणकारों ने भी शैशुनाग, नंद और मौर्य राजाओं के राजत्वकाल का वर्णन किया है। अजातशत्रु से अशोक के अभिषेक तक की उक्त अवधियाँ इस प्रकार हैं—

बौद्धगणना[१६]—		पुराणगणना—[१७]	
अजातशत्रु	३२	अजातशत्रु	३७
उदायिभद्द	१६	वंशक	२४
अनुरुद्ध-मुंड	८	उदायी	३३
नागदासक	२४	नंदिवर्द्धन	४२
सुसुनाग	१८	महानंदी	४३
कालासोक	२८	नव नंद	१००
कालासोकपुत्र	२२	चंद्रगुप्त	२४
नव नन्द	२२	बिंदुसार	२५
चंद्रगुप्त	२४		
बिंदुसार	२८		
अनभिषिक्त अशोक	३		
	२२५		३२८

१६ बौद्ध ग्रंथों में अजातशत्रु का राजत्व काल ३२ वर्ष का लिखा है।

इससे मालूम होगा कि बौद्ध अवधियों के अनुसार अजातशत्रु के राज्याभिषेक से अशोक के राज्याभिषेक पर्यंत सिर्फ २२५ वर्ष व्यतीत और बाकी के मागध राजाओं के राजत्व काल का प्रतिपादन करनेवाली 'महा-वंश' की निम्नलिखित गाथाएँ हैं—

"अजातसत्तुपुत्तो तं, घातेत्वादायभद्दको ।
रज्जं सोऽलसवस्सानि, कारेसि मित्तदुब्भिको ॥ १ ॥
उदयभद्दपुत्तो तं, घातेत्वा अनुरुद्धको ।
अनुरुद्धस्स पुत्तो तं, घातेत्वा मुण्डनामको ॥ २ ॥
मित्तद्दुनो दुम्मतिनो, ते पि रज्जं अकारयुं ।
तेसं उभिन्नं रज्जेसु, अट्ठवस्सानतिकमुं ॥ ३ ॥
मुण्डस्स पुत्तो पितरं, घातेत्वा नागदासको ।
चतुवीसति वस्सानि, रज्जं कारेसि पापको ॥ ४ ॥
पितुघातकवंसोयं, इति कुद्धाथ नागरा ।
नागदासकराजानं, अपनेत्वा समागता ॥ ५ ॥
सुसुनागोत्ति पञ्ञातं, अमच्चं साधुसंमतं ।
रज्जे समभिसिञ्चिंसु, सब्बेसं हितमानसा ॥ ६ ॥
सो अट्ठारस वस्सानि, राजा रज्जं अकारयि ।
कालासोको तस्स पुत्तो, अट्ठवीसति कारयि ॥ ७ ॥
अतीते दसमे वस्से, कालासोकस्स राजिनो ।
संबुद्ध परिनिब्बाणा, एवं वस्ससतं अहु ॥ ८ ॥

—महावंश परिच्छेद ४ ।

कालासोकस्स पुत्ता तु, अहेसुं दस भातुका ।
द्वावीसति ते वस्सानि, रज्जं समनुसासिसुं ॥ १४ ॥
नव नंदा ततो आसुं, कमेनेव नराधिपा ।
ते पि द्वावीस वस्सानि, रज्जं समनुसासिसुं ॥ १५ ॥
मोरियानं खत्तियानं वंसे जातं सिरीधरं ।
चंदगुत्तोत्ति पञ्ञातं, चाणक्को ब्राह्मणो ततो ॥ १६ ॥
नवमं धननंदं तं, घातेत्वा चंडकोधवा ।
सकले जंबुदीपस्मिं, रज्जे समभिसिञ्चि सो ॥ १७ ॥
सो चतुवीस वस्सानि, राजा रज्जं अकारयि ।
तस्स पुत्तो बिंदुसारो, अट्ठवीसति कारयि ॥ १८ ॥
बिंदुसारसुता आसुं, सतं एको च विस्सुता ।
असोको आसि तेसं तु, पुञ्ञतेजोबलिद्धिको ॥ १९ ॥

हुए थे, और पुराणों की गणना अजातशत्रु के अभिषेक से ३२६ वर्ष बीतने पर अशोक का राज्याभिषेक ठहराती है। इस प्रकार १००

वेमातिके भातरो सो, हन्त्वा एकूनकं सतं।
सकले जंबुदीपस्मिं, एकरज्जं अपापुणि ॥ २० ॥
जिननिब्बाणतो पच्छा, पुरे तस्साभिसेकतो।
साठ्ठारसं वस्ससत-द्वयं एवं विजानियं ॥ २१ ॥
पत्वा चतुहि वस्सेहि, एकरज्जं महायसो।
पुरे पाटलिपुत्तस्मिं, अत्तानं अभिसेचयि ॥ २२ ॥
—महावंश परिच्छेद ५।

१७ विष्णु, मत्स्य, ब्रह्मांड, वायु और श्रीमद्भागवत इन ५ पुराणों में यह कालगणना दी हुई है, जिसमें विष्णुपुराण और भागवत में प्रत्येक राजा का 'राजत्व काल' नहीं दिया, सिर्फ उनके नाम और उनके वंश का राजत्व काल मात्र बता दिया है। बाकी के ३ पुराणों में प्रत्येक व्यक्ति के नाम के साथ उनके राजत्व काल के वर्ष भी दिए हैं, पर इनमें भी अनेक नामों में और राज्य-काल के वर्षों में एक दूसरे के साथ भिन्नता हो गई है, इसलिये हमने किसी एक ही पुराण के अनुसार कालगणना न देकर सबके ऊपर से अवतारित करके यह सूची दी है। पुराणों के मूलश्लोक इस प्रकार हैं—

"अजातशत्रुर्भविता, सप्तत्रिंशत् समा नृपः।
चतुर्विंशत्समा राजा, वंशकस्तु भविष्यति ॥ ६ ॥
—मत्स्यपुराण अध्याय २७२।

"उदायी भविता तस्मात्त्रयस्त्रिंशत्समा नृपः।
स वै पुरवरं रम्यं, पृथिव्यां कुसुमाह्वयम् ॥
गङ्गाया दक्षिणे कूले, चतुर्थेऽब्दे करिष्यति ॥ ३१३ ॥
द्वाचत्वारिंशत्समा भाव्यो, राजा वै नन्दिवर्द्धनः।
चत्वारिंशत्त्रयं चैव, महानन्दी भविष्यति ॥ ३१४ ॥"
—वायुपुराण उत्तरखंड अध्याय ३७ प० १७५, १७६।

"महानन्दिसुतश्चापि, शूद्रायाः कालसंवृतः।
उत्पत्स्यते महापद्मः, सर्वक्षत्रान्तकृन्नृपः ॥ १३९ ॥
ततःप्रभृति राजानो, भविष्याः शूद्रयोनयः।
एकराट् स महापद्म, एकच्छत्रो भविष्यति ॥ १४० ॥
अष्टाशीतिं तु वर्षाणि, पृथिवीं पालयिष्यति।
सर्वक्षत्रं समुद्धृत्य, भाविनोऽर्थस्य वै बलात् ॥ १४१ ॥

से भी अधिक वर्ष के अंतर के कारण ये स्मृतियाँ कितनी अव्यवस्थित हैं यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है।

जैन ग्रंथों से मालूम होता है कि राजा कूणिक (अजातशत्रु) ने चंपा को अपनी राजधानी बनाया था,[१८] तो अजातशत्रु जब चंपा में गया होगा, अवश्य ही अपने किसी भाई भतीजे को राज-

---

तत्पश्चात्तत्सुता ह्यष्टौ, समा द्वादश ते नृपाः।
महापद्मस्य पर्याये, भविष्यन्ति नृपाः क्रमात् ॥ १४२ ॥
उद्धरिष्यति तान्सर्वान्, कौटिल्यो वै द्विजर्षभः।
भुक्त्वा महीं वर्षशतं, नरेन्द्रः स भविष्यति ॥ १४३ ॥
चन्द्रगुप्तं नृपं राज्ये, कौटिल्यः स्थापयिष्यति।
चतुर्विंशत्समा राजा, चन्द्रगुप्तो भविष्यति ॥ १४४ ॥
भविता भद्रसार (वि० पु० बिन्दुसार) स्तु पञ्चविंशत्समा नृपः।
षट्त्रिंशत्तु समा राजा, अशोकानां च तृप्तिदः ॥ १४५ ॥"
—ब्रह्मांडपुराण म० भा० उपोद्घा० ३ अ० ७४ प० १८५।

१८ कोणिक राजगृह से चंपा में अपना राज्यकार्य क्यों ले गया इसका विस्तृत वर्णन आवश्यक वृत्ति में दिया है, उसका सारांश यह है कि—'एक बार कोणिक ने अपनी माता से पूछा कि जितना मुझे अपने पुत्र से स्नेह है उतना और किसी को होगा? माता ने कहा—तेरे पिता को तेरे ऊपर इतना स्नेह था कि वे तेरी सड़ी गली दुर्गंधित अँगुली को मुँह में रखकर तुझे रोने से फुसलाते थे। कोणिक को यह सुनकर बहुत पश्चात्ताप हुआ और कुल्हाड़ी लेकर पिंजरे से श्रेणिक को निकालने के लिये दौड़ा, पर श्रेणिक ने समझा कि यह मेरा वध करने को आ रहा है, इससे वह आत्मघात करके मर गया। कोणिक को इस घटना से बड़ा दुःख हुआ और वह श्रेणिक के स्मारकों को देख देखकर सदा उदासीन रहने लगा। आखिर उसने इस चिंता से मुक्त होने के लिये राजगृह को छोड़कर चंपा में जाकर निवास किया।'

आवश्यक वृत्ति के इस विषय के प्रारंभिक शब्द इस प्रकार हैं—

"अण्णया तस्स (कोणियस्स) पउमावईए देवीए पुत्तो उदायितकुमारो जेमंतस्स उच्छंगे ठिओ, सो थाले मुत्तेति, न चालेइ, मा दुमिजिहित्ति। (जत्तिए) मुत्तियं तत्तियं कूरं अवणेइ, मायं भणति—अम्मो अण्णस्सवि कस्सवि पुत्तो एप्पिओ अत्थि? मायाए सो भणिओ—दुरात्मन्! तव अंगुली किमिए वमंती पिया मुहे काऊण अच्छियाइओ, इयरहा तुमं रोवंतो अच्छियाइओ।"
आवश्यक वृत्ति, प० ६८३।

गृह में वहाँ के शासक के तौर पर रखकर गया होगा, जैसा कि उसने अपने वैमातृक भाइयों से श्रेणिक को पदच्युत करने के पहले स्वीकार किया था।[१९]

अजातशत्रु का उत्तराधिकारी उदायी भी पाटलिपुत्र नगर बसाकर अपना राज्यकार्य वहाँ ले गया था, इस आशय का जैन ग्रंथों और पुराणों में लेख है।[२०] इससे संभव है कि अजातशत्रु के

---

१९ श्रेणिक (बिंबसार) को कैद करने के पहले कोणिक (अजातशत्रु) ने अपने वैमातृक दश भाइयों को यह कहकर उभाड़ा था कि 'श्रेणिक हम लोगों की स्वतंत्रता का बाधक है इस वास्ते हम सब मिलकर इसको कैद कर दें और राज्य को ११ हिस्सों में बांट लें।' भाइयों ने कोणिक की सलाह मान ली और श्रेणिक को कैद करके राज्य को बाँट लिया। इस बात का निरयावली में इस प्रकार वर्णन किया है—

"अभयंमिगहियव्वए अन्नया कोणिश्रो कालाईहिं दसहिं कुमारेहिं समं मंतेइ—सेणियं सेच्छाविग्घकारयं बंधित्ता एक्कारसभारा रज्जं करेमोत्ति। तेहिं पडिस्सुयं। सेणिश्रो बद्धो। पुव्वन्हे अवरन्हे य कससयं दवावेइ।"

—निरयावली व० १ अध्याय १ पृ० ६।

"तते णं कूणिए राया अन्नया कयाइ कालादीए दस कुमारे सद्दावेति २ रज्जं च जाव जणवयं च एक्कारसभाए विरिंचति २ सयमेव रज्जसिरिं करेमाणे पालेमाणे विहरति।"

—निरयावली वर्ग १ अध्याय १ पेज १४।

२० पाटलिपुत्र की उत्पत्ति का सविस्तर वर्णन 'आवश्यक चूर्णि (लिखित पत्र २४८) और आवश्यक वृत्ति (पत्र ६८६) में दिया है। आवश्यक वृत्ति के थोड़े से अवतरण हम नीचे देते हैं—

"ताहे रायाणो उदाइं ठावंति। उदाइस्स चिंता जायाएत्थ णयरे मम पिया आसि, अद्धितीए अण्णं नयरं कारावेमि, मग्गह वत्थुं ति पेसिया × × × ×

—आवश्यक वृ० पृ० ६८७।

"तं किर वीयणगसंठियं नयरं, णयराभिए य (?)
उदाइणा चेइहरं कारावियं, एसा पाडलिपुत्तस्स उप्पत्ती।"

—आ० वृ० पृ० ६८६।

" सो उदाई तत्थठिश्रो रज्जं भुंजइ।"

—आ० वृ० पृ० ६६०

इस बात का पुराणों से भी समर्थन होता है। ब्रह्मांड और वायुपुराण

समय से ही राजगृह में इस वंश की कोई छोटी राज्य-शाखा कायम हो गई हो और उसमें बौद्धों के नागदासक और पौराणिकों के दर्शक वा हर्षक वगैरह राजा पैदा हुए हों[21] और इन दोनों शाखाओं के राजाओं के राजत्व काल को गड़बड़ करके बौद्धों और पौराणिकों ने गलत वंशावलियाँ तैयार कर ली हों। इन दोनों सूचियों में निश्चित भूल कहाँ है यह जानना कठिन है; पर जहाँ तक मैं समझता हूँ, पुराणों की सूची में दर्शक के २४ वर्ष अधिक हैं।

में उदायी ने कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) बसाया इस बात के समर्थक निम्नलिखित श्लोक मिलते हैं—

"उदायी भविता तस्मात्त्रयस्त्रिंशत्समा नृपः।
स वै पुरवरं राजा, पृथिव्यां कुसुमाह्वयम् ॥ १३२ ॥
गंगाया दक्षिणे कूले, चतुर्थेऽह्नि करिष्यति।"

—ब्रह्मांड० म० भा० उपो० ३ अध्याय ७४।

"उदायी भविता तस्मात्त्रयस्त्रिंशत्समा नृपः।
स वै पुरवरं राजा, पृथिव्यां कुसुमाह्वयम् ॥
गंगाया दक्षिणे कूले, चतुर्थेऽब्दे करिष्यति ॥ ३१३ ॥"

—वायुपुराण उत्त० अ० ३७।

२१ ऊपर देख आए हैं कि उदायी ने पाटलिपुत्र को अपनी राजधानी बनाया था, उदायी जैनों और बौद्धों के कथनानुसार अजातशत्रु, कोणिक का पुत्र था, जैन उल्लेखों के अनुसार उदायी के बाद मगध की राजधानी नंद के हाथ में गई थीं, पुराण उदायी के बाद नंदिवर्द्धन और महानंदि का मगध पर राज्याधिकार बताते हैं, जो वास्तव में नंद ही हैं। परन्तु पुराणकार अजातशत्रु और उदायी के बीच में वंशक अथवा दर्शक को मगध का राजा बताते हैं जो स्पष्ट भूल है। यद्यपि दर्शक शैशुनाग वंश का ही राजवंशी पुरुष था, पर वह मगध का मुख्य राजा नहीं किंतु मगध की पुरानी राजधानी राजगृह की शाखा का मांडलिक था।

महाकवि भास के 'स्वप्नवासवदत्त नाटक' के निम्न उद्धृत उल्लेखों से भी दर्शक राजगृह का राजा था यही ध्वनित होता है। देखो—

" काञ्चुकीयः—भोः श्रूयताम्। एषा खलु गुरुभिरभिहितनामधेयास्माकं महाराजदर्शकस्य भगिनी पद्मावती। सैषा नो महाराजमातरं महादेवीमाश्रमस्थामभिगम्यानुज्ञाता तत्रभवत्या राजगृहमेव यास्यति।"

—स्वप्नवासवदत्त, अंक १ पृष्ठ १४।

इन्हें निकाल देने से पौराणिक और जैन गणनाएँ मौर्य राज्य के अंत में जाकर मेल खा जाती हैं।

बौद्ध ग्रंथ 'दीपवंश' में नंदों का नामोल्लेख तक नहीं है और 'महावंश' में नव नंदों का राज्यकाल सिर्फ २२ वर्ष लिखा है, यह स्पष्ट भूल है। नंदों के समय में बौद्ध लेखकों ने बहुत गड़बड़ कर दिया है और इसी कारण से इनकी सूचियों में से नंदसंबंधी अधिक समय छूट गया है। पुराणकार नंदों का राजत्व काल १०० वर्ष का लिखते हैं और जैन ग्रंथकार १५० वर्ष तक मगध पर नंदों का शासन हुआ बताते हैं। हमारी समझ में जैनों का कथन ही इस विषय में ठीक प्रतीत होता है, क्योंकि पुराण-कारों ने नंदिवर्धन और महानंदि को शैशुनागवंश्य मानकर इनका राजत्व-काल शैशुनाग की वंशावली में गिन लिया है, पर वस्तुतः नंदिवर्धन और महानंदि नव नंदों से भिन्न नहीं हैं। इस-लिये इनका राजत्वकाल नंदकाल में लेना चाहिए और ऐसा करने पर पौराणिक गणना से नंदों के १८५ वर्ष आएँगे जो कि जैन गणना से ३५ अधिक हैं। जैन गणना मौर्यकाल १६० वर्ष का मानती है और पुराणकार इसको १३७ वर्ष से अधिक नहीं मानते। उधर नंदिवर्धन और महानंदि के वर्ष नंदों के काल में ले लेने से पौराणिक गणना में शैशुनागों के ९४ वर्ष बचेंगे, इनमें से दर्शक को राजगृह शाखा का मान के इसके २४ वर्ष भी निकाल दिए जायँ तो शैशुनागों के राजत्वकाल के वर्ष ७० बचेंगे और मौर्यांत समय ७० + १८५ + १३७ = ३९२ वर्ष का होगा। जैन गणनानुसार भी मौर्यांत समय ८२ + १५० + १६० = ३९२ वर्ष के बराबर ही होता है।

ऐसा मालूम होता है कि बौद्धों ने बहुत समय तक राजगृहवाली सत्ताहीन राज्य-परंपरा को ही पकड़ रक्खा था, अन्यथा वे क्यों नंदों का नामोल्लेख न करें और नव नंदों का सिर्फ २२ वर्ष का अल्प समय बतावें। इसका और क्या कारण हो सकता है?

हमने ऊपर देखा कि जैन और पौराणिक गणनाएँ किसी तरह मौर्यकाल के अंत में जाकर मिल जाती हैं, पर बौद्ध गणना किसी तरह मेल नहीं खाती। संभवतः इसमें से नंदों के राजत्व काल के बहुत वर्ष छूट गए हैं, और शायद इसी कमी को ठीक करने के इरादे से पिछले बौद्ध लेखकों ने उदायिभद्द मुंड और अनुरुद्ध इनमें से प्रत्येक का १८–१८ वर्ष का राजत्व काल गिनकर और बिंदुसार के ५८ वर्ष मानकर उक्त गणना में करीब ६० वर्ष बढ़ाने की चेष्टा की होगी। कुछ भी हो, बौद्धों की कालगणना दूषित अवश्य है। इस अव्यवस्थित गणना के आधार पर महावीर के निर्वाण समय का विचार करना उचित नहीं है।

अजातशत्रु अंत तक महावीर का अनुयायी था,[२२] उदायी भी परम जैन था।[२३] उदायी के उत्तराधिकारी नंद[२४] और उनका

२२ अजातशत्रु (कोणिक) महावीर का परम अनुयायी था, यह बात औपपातिक आदि जैनसूत्रों से सिद्ध होती है।

२३ उदायी महावीर का परम भक्त व्रतधारी श्रावक था। इसने अपनी राजधानी पाटलिपुत्र में जैन-चैत्य बनवाया था और यह अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्व तिथियों में पौषध-उपवास भी करता था—ऐसा आवश्यक चूर्णि और आवश्यक वृत्ति में लिखा है। देखो आवश्यक वृत्तिपत्र ६८९—६९० ।

२४ राजा पद्मनंद और इसके उत्तराधिकारी दूसरे नंद किस धार्मिक मत को माननेवाले थे इसका कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता तथापि कतिपय पुराणों और इतर ग्रंथों के लेखों से नंदों का जैन धर्मानुयायी होना सिद्ध होता है।

विष्णुपुराणकार नंद के संबंध में लिखते हैं 'महानंदि का पुत्र शूद्रा-गर्भजात अति लोभी और अति बली परशुराम की तरह सब क्षत्रियों का नाश करनेवाला महापद्म नामक नंद होगा और तब से इस भारत-भूमि पर शूद्र राजा होंगे।'

"महानंदिनस्ततश्शूद्रागर्भोद्भवोऽतिलुब्धोऽतिबलो महापद्मनामा नंदः परशुराम इवाऽपरोऽखिलक्षत्रान्तकारी भविष्यति ॥ २० ॥ ततप्रभृति शूद्रा भूपाला भविष्यन्ति ॥ २१ ॥

—विष्णुपुराण।

यही बात मत्स्यपुराण के २७२वें अध्याय के १७वें और १८वें श्लोकों में, ब्रह्मांडपुराण म० भा० उपो० पा० ३ के अध्याय ७४ के ३६वें और ४०वें श्लोकों में और वायुपुराण उत्त० अध्याय ३७ के ३२०वें तथा ३२१वें श्लोकों में दुहराई है।

श्रीमद्भागवत द्वादश स्कंध के १ अध्याय के ८वें श्लोक में लिखा है—क्षत्रियों का नाश करनेवाला महापद्मपति नाम का कोई नंद होगा और तब से शूद्रप्राय अधार्मिक राजा होंगे—

"महापद्मपतिः कश्चिन्नंदः क्षत्रविनाशकृत्।
ततो नृपा भविष्यंति, शूद्रप्रायास्त्वधार्मिकाः॥"

भागवत द्वादश स्कंध के २ अध्याय के ३२वें श्लोक में लिखा है—'जब मघा से पूर्वाषाढ़ा तक सप्तर्षि पहुँचेंगे तब नंद का समय होगा और तब से कलियुग का प्रभाव बढ़ेगा।'

"यदा मघाभ्यो यास्यन्ति, पूर्वाषाढां महर्षयः।
तदा नन्दात्प्रभृत्येष, कलिर्वृद्धिं गमिष्यति॥"

पुराणों के इन उल्लेखों से यह पाया जाता है कि नंद राजा के समय में ब्राह्मण धर्म, 'राज्यधर्म' इस बिरुद को खो चुका था। यों तो प्रद्योतों और शैशुनागों के समय में ही जैन और बौद्ध धर्म की उन्नति के साथ वैदिक धर्म पिछड़ने लग गया था पर फिर भी कभी कभी उसे राज्यसत्ता का सहारा मिल जाता था। पर मालूम होता है, नंद और मौर्य साम्राज्यकाल में वह सर्वथा राज्यसहाय से रहित हो गया था। यही कारण है कि ब्राह्मणों ने नंद के समय से कलियुग के प्रभाव की वृद्धि बताई है और राजाओं को शूद्र लिखा है। इससे यह बात तो निश्चित है कि नंद राजा और उसके उत्तराधिकारी वैदिक धर्म के अनुयायी नहीं थे। तो अब यह देखना रहा कि नंद जैन था या बौद्ध?

जहाँ तक हमने देखा है, बौद्ध लेखक नंदों से बिलकुल अपरिचित हैं। दीपवंश में जहाँ सीलोन के राजाओं के साथ साथ मगध के राजाओं का समय बताया है, वहाँ नंदों का नामोल्लेख ही नहीं किया, और महावंश में नंदों का उल्लेख तो है, पर वहाँ सिर्फ २२ वर्ष ही उनके राजत्वकाल के दिए हैं। इससे ज्ञात होता है, बौद्ध लेखकों को नंदों का वास्तविक परिचय नहीं था। अगर नंद बौद्ध धर्मी होते तो बौद्ध लेखक उनसे इतने अनभिज्ञ नहीं रहते। इससे जाना जाता है कि नंद और उसके वंशज जैन धर्म के अनुयायी होंगे।

'तित्थोगाली पइन्नय' और 'दीपमाला-कल्प' आदि में लिखा है कि 'एक बार नगरचर्या करते हुए कल्की (पुष्यमित्र) ने पाँच स्तूप देखे और उनके संबंध में पूछा तब उत्तर में मनुष्यों ने कहा—नंद राजा ने जो बड़ा धनवान्,

मंत्रिवंश भी जैन था,[२१] मौर्य राजा भी जैन धर्म के पोषक और

रूपवान् और यशस्वी था यहाँ बहुत काल तक राज्य किया था। उसी ने ये स्तूप बनवाए हैं और इनमें अपार सुवर्णराशि गाड़ी है जिसे अन्य कोई राजा ग्रहण नहीं कर सकता।' यह सुनकर कल्की ने उन स्तूपों को खुदवाया और नंद राजा का वह सुवर्ण ले लिया। देखो नीचे की गाथाएँ—

"सो अविणयपजत्तो, अण्णनरिंदे तणं पिव गणंतो।
नगरं आहिंडंतो, पेच्छीहि पंचथूभे उ॥ ६३६॥
पुट्ठा य बेंति मणुआ, नंदो राया चिरं इहं आसि।
बलितो अत्थसमिद्धो, रूवसमिद्धो जससमिद्धो॥ ६३७॥
तेण उ इहं हिरण्णं निक्खित्तं, सि बहु (?) बलसमत्तेणम्।
न य णं तरंति अण्णे, रायाणो दाणि वित्तं जे॥ ६३८॥
तं वयणं सोऊणं खणेहीति समंततो ततो थूभे।
नंदस्स संतियं तं पडिवजइ सो अह हिरण्णं॥ ६३९॥"

यही हाल दीपमाला कल्पों में भी लिखा है जिसका यहाँ उल्लेख करने की जरूरत नहीं है। बौद्धों को इन नंदकारित सुवर्णस्तूपों का परिचय न होने से यही कहना उपयुक्त होगा कि पाटलिपुत्र के उक्त स्तूप जैन धर्म के स्मारक होंगे। हाथीगुंफा के कलिंगराज खारवेल के लेख के एक उल्लेख भी नंद राजा का जैन धर्मानुयायी होना साबित होता है।

खारवेल अपने राज्याभिषेक के बारहवें वर्ष के कामों का उल्लेख करता हुआ लिखता है कि 'बारहवें वर्ष में...से उत्तर देश के राजाओं को भयभीत किया, मगध के निवासियों पर धाक जमाते हुए उसने अपने हाथियों को गंगा में जलपान कराया, मगधराज बृहस्पति मित्र को अपने पैरों में गिराया और राजा नंद द्वारा ले जाई गई कलिंग की जिन मूर्ति को...और गृहरत्नों को लेकर प्रतिहारों द्वारा अंग-मगध का धन ले आया।' देखो नीचे का अवतरण—

"—बारसमे च वसे......सेहि वितासयति उतरापथराजानो...मगधानं च विपुलं भयं जनेतो हथिसु गंगाय पाययति [।] मागधं च राजानं बहसतिमितं पादे वंदापयति [।] नंदराजनीतं च कालिंग-जिन-संनिवेसं गहरतनान पडिहारेहि अंगमागध-वसुं च नेयाति [।]"

इस प्रकार नंद द्वारा जिन मूर्ति का ले जाना भी यही सूचित करता है कि वह जैन धर्म का अनुयायी होगा अन्यथा उसे जिन मूर्ति ले जाने का कोई प्रयोजन नहीं था।

२१ प्रथम नंद का मंत्री कल्पक ब्राह्मण था, जो कट्टर जैन धर्मी था। इसके वंश में नवम नंद के मंत्री शकटाल तक के सब पुरुष जैन धर्मी ही हुए।

कितनेक कट्टर जैन थे,[२६] इस परिस्थिति को ध्यान में रखकर यह कहा

शकटाल के पुत्र स्थूलभद्र, श्रीयक और यक्षा आदि सात पुत्रियों ने जैनधर्म की दीक्षा अंगीकार की थी। शकटाल खुद भी परम जैन श्रावक था और इसी कारण से वह ब्राह्मणों के द्वेष का पात्र हुआ था। देखो आवश्यक चूर्णि परिशिष्ट पर्व आदि जैन ग्रंथ।

२६ परिशिष्ट पर्व में आचार्य हेमचंद्र ने लिखा है—'ब्राह्मण चाणक्य परम जैन श्रावक था और वह चंद्रगुप्त को भी जैन-धर्मी बनाना चाहता था। यद्यपि राजा उसके हरएक वचन को स्वीकार करता था, पर चाणक्य ने राजा को युक्तिपुरस्सर जैन धर्म में दृढ़ करने का विचार किया और जैनेतर सब दर्शन के साधुओं को राजा को धर्म सुनाने के लिये आने का आमंत्रण दिया। सब दर्शनी नियत समय के पहले ही नियत स्थान पर आ डटे, पर राजा उनके पास समय पर नहीं गया। दर्शनी लोग जब तक राजा नहीं आया उस एकांत स्थान में इधर से उधर घूमते फिरते रहे, कोई कहीं चढ़ता उतरता तो कोई महलों की जालियों से जनाने में ही नजर झुकाता।'

अंत में सबको बिदा करने के बाद चाणक्य ने राजा से कहा—'ये कैसे चंचल-प्रकृति और विषयों के लोलुप हैं, जालियों मे आपके अंतःपुर तक को देखना नहीं चूके। देखिए इनके रेती में पड़े हुए ये पदचिह्न।' यह कहकर उसने उनके इधर उधर भटकने और चढ़ने उतरने के सूक्ष्म रज में पड़े हुए पदचिह्न दिखाए।

इस दृश्य से चंद्रगुप्त की सब दर्शनियों पर से श्रद्धा कम हो गई।

उसी प्रकार दूसरे दिन जैन साधुओं को भी उसने बुलाया। साधु समय पर आकर नियत स्थान पर बैठ गए और जब तक राजा नहीं आया उसी स्थान पर बैठे रहे। राजा ने उनसे भी धर्म सुना और उन्हें बिदा किया। पीछे से चाणक्य ने कहा—'देखिए ये कैसे शांत और जितेंद्रिय साधु हैं? अपना स्थान और ध्यान छोड़कर इन्होंने कहीं भी पैर नहीं रखा। चंद्रगुप्त की भक्ति जैन साधुओं की ओर झुकी। इतना ही नहीं बल्कि वह जैन धर्म का पक्का अनुयायी हो गया।' इससे ज्ञात होता है कि चाणक्य की प्रेरणा और जैन साधुओं के उपदेश से चंद्रगुप्त आखिर में जैन हो गया था।

चंद्रगुप्त जैन था इस विषय में जैनेतर विद्वानों के मत भी देखने योग्य हैं। टामस साहब अपनी एक पुस्तक (जैनिज्म और दी अर्ली लाइफ आफ अशोक—पेज २३) में लिखते हैं कि 'चंद्रगुप्त जैन समाज का व्यक्ति था यह जैन ग्रंथकारों ने एक स्वयंसिद्ध और सर्वप्रसिद्ध बात के रूप से लिखा है, जिसके लिये कोई अनुमान प्रमाण देने की आवश्यकता ही नहीं थी। इस

जाय कि बौद्ध और पौराणिक गणनाओं की अपेक्षा जैन कालगणना ही इस विषय में ठीक हो सकती है तो कुछ भी अनुचित नहीं होगा।

जैन कालगणना

जैनों में कालगणना की दो पद्धतियाँ बनी हुई हैं—पहली प्रसिद्ध राजाओं के राजत्वकाल की गणना से और दूसरी स्थविरों के युगप्रधानत्व काल की गणना पर। इन दोनों पद्धतियों का प्रारंभ भगवान् महावीर के निर्वाणकाल से होता है।

विषय में लेखों के प्रमाण बहुत प्राचीन और साधारणतः संदेहरहित हैं। मैगास्थनीज के कथनों से भी झलकता है कि चंद्रगुप्त ने ब्राह्मणों के सिद्धांतों के विपक्ष में श्रमणों (जैन मुनियों) के धर्मोपदेशों को अंगीकार किया था।

इसके उपरांत टामस साहब यह भी सिद्ध करते हैं कि चंद्रगुप्त-मौर्य्य के पुत्र बिंदुसार और पौत्र अशोक भी जैन धर्मावलंबी थे। इसके लिये उन्होंने मुद्राराक्षस, राजतरंगिणी तथा आइने अकबरी के प्रमाण दिए हैं।

इनके अतिरिक्त डा० ल्यूमन, हार्नेले, स्मिथ, मि० राइस और श्रीयुत जायसवाल भी चंद्रगुप्त को जैन धर्मावलंबी मानते हैं, लेकिन ये सभी विद्वान् चंद्रगुप्त को श्रुत-केवली भद्रबाहु का शिष्य मानते हैं, इसके साथ हम सहमत नहीं हो सकते। हमने जहाँ तक इस विषय का अन्वेषण किया है, चंद्रगुप्त के समय में भद्रबाहु का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। चंद्रगुप्त के राज्यकाल में जब दुर्भिक्ष पड़ा उस समय पाटलिपुत्र में सुट्ठिय (सुस्थित) नामक वृद्ध आचार्य के होने के प्राचीन लेख तो मिलते हैं, पर भद्रबाहु-चंद्रगुप्त का गुरुशिष्य संबंध बतानेवाला उल्लेख विक्रम की दशवीं सदी के पहले के किसी भी लेख या ग्रंथ में हमारे देखने में नहीं आया।

इसका पुत्र बिंदुसार किस धर्म का अनुयायी था, इस बात का अभी तक कोई निश्चय नहीं है। चंद्रगुप्त का उत्तराधिकारी होने से, टामस साहब के कथनानुसार, यह जैन हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। पर बौद्धों के कुछ ऐसे भी उल्लेख हैं जिनसे इसका ब्राह्मणभक्त होना भी ध्वनित होता है।

अशोक बौद्ध होने के पहले जैन था ऐसा कतिपय विद्वानों का कथन है।

अशोक का उत्तराधिकारी संप्रति अथवा संपदी कट्टर जैन था इस प्रसिद्ध बात के लिये शायद ही प्रमाण देने की जरूरत होगी।

संप्रति के बाद के मौर्य्य राजाओं का जैन ग्रंथकारों को अधिक परिचय नहीं है, इसका कारण संभवतः उनकी धार्मिक मंदता हो सकती है।

पहले हम राजत्व कालगणना पर ही विचार करेंगे।

"तित्थोगाली पइन्नय" नामक प्राचीन जैन प्रकरण ग्रंथ में[२७] महावीर-निर्वाण से शक संवत्सर के प्रारंभ तक के ६०५ वर्ष और ५ मास की कालगणना नीचे अनुसार गाथाबद्ध की है—

"जं रयणिं सिद्धिगओ, अरहा तित्थंकरो महावीरो।
तं रयणिमवंतीए, अभिसित्तो पालओ राया ॥ ६२० ॥
पालगरण्णो सट्ठी, पुण पण्णसयं वियाणि णंदाणम्।
मुरियाणं सट्ठिसयं, पणतीसा पूसमित्ताणम् (त्तस्स) ॥६२१॥

२७ 'तित्थोगाली' प्रकरण के कर्त्ता का अथवा इसके रचना-समय का इस ग्रंथ में कहीं भी उल्लेख नहीं है। वैसे ही कहीं भी इसके संबंध में विशेष उल्लेख न होने से इसका वास्तविक निर्माणकाल बताना कठिन है तो भी कुछ ऐसे उल्लेख इसमें मौजूद हैं जिनके आधार पर हम इस ग्रंथ को विक्रम की पाँचवीं सदी के आसपास पाटलिपुत्र में बना हुआ अनुमान कर सकते हैं।

कल्की राजा की उत्पत्ति के संबंध में इसमें एक गाथा इस प्रकार है—

"जं एयं वरनगरं, पाडलिपुत्तं तु विस्सुअं लोए।
एत्थ होही राया, चउमुहो नाम नामेण ॥ ६३५ ॥"

—तित्थोगाली पइन्नय पृ० २८

इस गाथा के 'एयं' और 'एत्थ' शब्द-प्रयोगों से जाना जाता है कि लेखक ने पाटलिपुत्र में रहते हुए ही यह प्रकरण बनाया होगा।

राजवंशों की समाप्ति-सूचक एक गाथा इसमें इस प्रकार है—

"ता एवं सगवंसो य नंदवंसो य मरुयवंसो य।
सयराहेण पणट्ठा, समयं सज्झायवंसेण ॥ ७०५ ॥"

—तित्थोगाली पृ० २३।

इसमें नंद, मौर्य और शक वंश के अंत का निर्देश है। विक्रम की चौथी सदी के पूर्वार्ध में ही शक साम्राज्य का अंत और गुप्त साम्राज्य का उदय हो चुका था। प्रकरणकार शक वंश के नाश का उल्लेख तो करते हैं, पर उसके नाशक गुप्त राजवंश के बारे में कुछ भी इशारा नहीं करते। इससे मालूम होता है कि उनके समय में गुप्तवंश तरक्की कर रहा होगा। दूसरे भी कितनेक ऐसे आंतर प्रमाण हैं जिनसे विक्रम की चौथी सदी के अंत में और पाँचवीं के आदि में इस ग्रंथ की रचना होने का अनुमान किया जा सकता है।

बलमित्त-भाणुमित्ता, सट्ठा चत्ताय होंति नहसेणे।
गद्दभसयमेगं पुण, पडिवन्नो तो सगो राया ॥ ६२२ ॥
पंच य मासा पंच य, वासा छच्चेव होंति वाससया।
परिनिव्वुअस्सऽरिहतो, तो उप्पन्नो (पडिवन्नो) सगो राया ६२३"

अर्थात् 'जिस रात में अर्हन् महावीर तीर्थंकर निर्वाण हुए उसी रात (या दिन ?) में अवंति में पालक का राज्याभिषेक हुआ।

६० वर्ष पालक के, १५० नंदों के, १६० मौर्यों के, ३५ पुष्यमित्र के, ६० बलमित्र-भानुमित्र के, ४० नभःसेन के और १०० वर्ष गर्दभिल्लों के बीतने पर शक राजा का शासन हुआ।

अर्हन् महावीर को निर्वाण हुए ६०५ वर्ष और ५ मास बीतने पर शक राजा उत्पन्न हुआ[२८]।

---

२८ हमारे पास एक पुस्तक है, जिसे दुःषिमगंडिका और युगप्रधान गंडिका का 'सार' कह सकते हैं इसके प्रथम पत्र के दूसरे पृष्ठ में जैन कालगणना-संबंधी वे गाथाएँ हैं जिनकी आचार्य मेरुतुंग ने 'विचारश्रेणि' नामक टीका लिखी है। उसमें पालक का राज्य २० वर्ष का लिखा है और नंदों का १५८ वर्ष का, मौर्यों का १०८, पुष्यमित्रों का ३०, बलमित्र-भानुमित्र का ६०, दधिवाहन का ४०, गर्दभिल्लों का ४४, शकों का ५०, विक्रम का १७ वर्षों का और ३८ वर्ष शून्य वंश का राज्यकाल बताकर ६०५ में शक संवत्सर का प्रारंभ बताया है। पाठकों के अवलोकनार्थ हम उन मूल पंक्तियों को नीचे उद्धृत करते हैं—

"श्रीवीरनिर्वाणात् विशालायां पालकराज्यं २० वर्षाणि। एतेन सहितं सर्वनंदराज्यं १७८। १०८ वर्षाणि मौर्यराज्यं, वर्ष ३० पुष्यमित्राणां, बलमित्र-भानुमित्रराज्यं ६० वर्षाणि। दधिवाहनराज्यं ४०। तदा ४१६। तदा च देवपत्तने चंद्रप्रभजिनभुवनं भविष्यति। अथ गर्दभिल्लराज्यं वर्ष ४४, तदनु वर्ष पं० ५० शकवंशा राजानो जीवदयारता जिनभक्ताश्च भविष्यंति। श्री वीरात्। पृ० ४७०।

कालंतरेण केणवि, उप्पाडित्ता सगाण तं वंसं।
हो ही मालवराया नामेणं विक्कमाइच्चो॥ १॥
तो सत्त नवइ वासा १७ पालेही विक्कमो रज्जं (?)।
अरिणत्तणेण सो विहु, विहए संवच्छरं निययं॥ २॥
संवच्छरं तु लत्तं (?) तंमि समयंमि गणनाह॥

कोई कोई विद्वान् इस राजत्व कालगणना के यथार्थ होने में यह कहकर संदेह करते हैं कि यह किसी एक ही स्थान के राजाओं की वंशावली नहीं है, किंतु अनेक स्थानों के अनेक राजाओं के राजत्व-काल का संमिश्रण है।

हम मानते हैं कि इस पद्धति में अन्यान्य स्थानीय राजाओं का राजत्वकाल जोड़ा हुआ है, और इसी कारण से इस परंपरा को "राज्यवंशावली" अथवा 'राज्यपदावली" न कहकर हम 'राजत्व कालगणना' कहते हैं।

एक राजवंश का विच्छेद होने पर उस वंश का राजत्वकाल नए राजवंश के साथ जुड़ सकता है, अथवा, स्थान-परिवर्तन में प्रथम स्थानीय समयगणना नए स्थान के राजत्वकाल के साथ ली जा सकती है,[२९] तब क्या कारण है कि भ्रमणशील जैन साधुओं की इस प्रकार की राजत्वकाल-शृंखला की सत्यता में संदेह किया जाय ?

श्री वीरनिर्वाणात् ४५० विक्रमवंशस्तदनु वर्ष १३८ शून्यो वंशः। श्री वीरात् ६०५ शक संवत्सरः ॥"

२९ पुराणों में परीक्षित के जन्म से महापद्मनंद के अभिषेक पर्यंत के १०५० वर्षों की गणना दी है, जिसमें न एक स्थान का पता है और न एक राजवंश का ही। गणना परीक्षित के जन्म-स्थान से शुरू होकर अवन्ति, गिरिव्रज होती हुई पाटलिपुत्र में समाप्त होती है। इसमें एक राजवंश का भी कुछ हिसाब नहीं है, परीक्षित, बार्हद्रथ, प्रद्योत, शैशुनाग प्रभृति अनेक राज-वंशों के राजत्वकाल को एकत्र जोड़कर पुराणकारों ने—

"यावत् परीक्षितो जन्म, यावन्नंदाभिषेचनम्।
एतद्वर्षसहस्रं तु, ज्ञेयं पञ्चाशदुत्तरम् ॥ १०४ ॥"
—वि० पु० अंश ४ अध्या० २४ पृ० १९९-२०२।

यह १०५० वर्ष का लेखा दिया है। और जहाँ तक मैं जानता हूँ एक स्थान और एक राजवंश से संबंधित न होने के कारण मात्र से इस गणना की सत्यता के विषय में आज तक किसी ने शंका प्रकट नहीं की। जैन गणना भी करीब इसी ढंग पर ऐतिहासिक व्यक्तियों के समय के आधार पर की गई है। उसकी सत्यता में संदेह करने का कोई कारण नहीं है।

जिस रात में भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ उसी दिन अवन्ति में राजा पालक का राज्याभिषेक हुआ था इसलिये निर्वाण के साथ बराबर संबंध जुड़ जाने से इस राजत्व काल को जैनाचार्यों ने अपनी गणना-शृंखला का पहला आँकड़ा बना लिया।

पालक वंश के राज्य-काल के सात वर्ष पूरे होते ही उदायी का मरण हुआ, इसके साथ ही मगध के प्रख्यात शैशुनाग वंश का अंत हुआ। मगध के राज्य पर नंद का राज्याभिषेक[२०] हुआ और नव पीढ़ी तक नंद के वंशजों ने १५० वर्ष पर्यंत मगध का साम्राज्य भोगा। जैनों ने इस दीर्घ काल को अपनी गणना-शृंखला का दूसरा आँकड़ा बना लिया।

वीर निर्वाण को २१० वर्ष पूरे हुए ही थे कि नंदों का राज-सिंहासन डोला, चाणक्य ब्राह्मण ने अंतिम नंद को पदच्युत करके चंद्रगुप्त मौर्य को मगध का महाराजा बना लिया।

मगध और आसपास के प्रदेशों में विचरते हुए जैनाचार्य इस मौर्य साम्राज्य काल को स्मरण में रखते गए और मौर्य काल के १६० वर्षों से अपनी गणना-शृंखला का तीसरा आँकड़ा पूरा कर वीर निर्वाण से ३७० वर्ष तक आ पहुँचे।

अंतिम मौर्य राजा बृहद्रथ को मारकर उसके सेनानी पुष्य-मित्र ने मगध की राज्य-धुरा अपने कंधे पर ले ली।

---

२० युगप्रधानस्तोत्रयंत्र के पत्र में एक गाथा लिखी हुई मिलती है जिसका भाव यह है कि 'महावीर निर्वाण की रात में अवंति में पालक राजा होगा, जो अपुत्र उदायी का मरण होने पर पाटलिपुत्र का स्वामी होगा।'

मूल गाथा यह है—

"मह निव्वाणनिसाए, गोयम पालयनिवो अवंतीए।
होहीइ पाडलीअ पहू, सो असुयउदाय (इ) निव मरणे ॥१॥"

इसके आगे "पालगरण्णो सट्ठी" इत्यादि प्रसिद्ध गाथाएँ दी हैं। पर हम इस गाथा के उत्तरार्ध के उल्लेख पर विश्वास नहीं कर सकते कि उदायी की मृत्यु के बाद पालक पाटलिपुत्र का राजा हुआ हो, क्योंकि अन्य सब जैन उल्लेख नंद को ही उदायी का उत्तराधिकारी बताते हैं।

पुष्यमित्र केवल वैदिक धर्मानुयायी ही नहीं, अपने इष्ट धर्म की वृद्धि के लिये अन्यधर्म-नाशक धर्मांध राजा था। नंद और मौर्य वंश्य राजाओं की तरह अपने मान्य धर्म के पोषण के साथ साथ अन्य धर्मों का उचित सत्कार करने की जगह उनका विनाश करना ही इसने ठीक समझा। अशोक और संप्रति सरीखे धार्मिक मौर्य राजाओं की छत्रछाया में फूले फले बौद्ध और जैन धर्मारामों के लिये पुष्यमित्र प्रचंड दावानल रूप साबित हुआ। नंदकालीन कीमती जैन स्तूपों और बौद्धों के संघारामों (विहारों) का नाश कर हजारों बौद्ध भिक्षुओं और जैन निर्ग्रंथों के वेष इसने जबरदस्ती उतरवा लिए[३१]।

---

३१ महायानिक बौद्धों के 'दिव्यावदान' ग्रंथ के २९ वें अवदान में लिखा है कि पुष्यधर्मा के पुत्र पुष्यमित्र ने अपने मंत्रियों से पूछा—ऐसा कौन उपाय है जिससे हमारा नाम हो? मंत्रियों ने कहा—महाराज! आपके वंश में राजा अशोक हुआ जिसने ८४००० धर्मराजिका स्थापित करके अपनी कीर्त्ति अचल की जो जहाँ तक भगवान् (बुद्ध) का शासन रहेगा वहाँ तक रहेगी। आप भी ऐसा कीजिए ताकि आपका नाम अमर हो जाय। पुष्यमित्र ने कहा—राजा अशोक तो बड़ा था। हमारे लिये कोई दूसरा उपाय है? यह सुनकर उसके एक अश्रद्धावान् ब्राह्मण ने कहा—देव! दो कारणों से नाम अमर होगा × × × × राजा पुष्यमित्र चतुरंग सेना को सज्जित न करके भगवच्छासन का नाश करने की बुद्धि से कुक्कुटाराम की ओर गया, पर द्वार पर जाते ही घोर सिंहनाद हुआ जिससे भयभीत होकर राजा वापिस पाटलिपुत्र को चला आया। दूसरी और तीसरी बार भी यही बात हुई। आखिर में राजा ने भिक्षु और संघ को अपने निकट बुलाकर कहा—मैं बुद्धशासन का नाश करूँगा। तुम क्या चाहते हो, स्तूप या संघाराम? भिक्षुओं ने (स्तूपों को ?) ग्रहण किया। पुष्यमित्र संघाराम और भिक्षुओं का नाश करता हुआ शाकल तक पहुँच गया। उसने यह घोषणा कर दी कि जो मुझे श्रमण (साधु) का मस्तक देगा उसको मैं सोने की सौ मुहर दूँगा। × × × बड़ी संख्या में शिर देना आरंभ किया सुनकर वह अर्हत् (अर्हत् प्रतिमा ?) का घात करने लगा, पर वहाँ उसका कोई प्रयत्न सफल नहीं हुआ। सब प्रयत्न छोड़कर वह कोष्टक में गया। उस समय दंष्ट्राविनाशी यक्ष सोचता है कि यह भगवच्छासन का नाश हो रहा है, पर मैंने यह शिक्षा ग्रहण की हुई है कि 'मैं किसी का अप्रिय नहीं

करूँगा'। उस यक्ष की पुत्री की कृमीसेन यक्ष याचना करता था पर उसे पापकर्मी समझकर वह अपनी पुत्री को नहीं देता था, पर उस समय उसने भगवच्छासन की रक्षा के निमित्त अपनी पुत्री कृमीसेन को दे दी।

पुष्यमित्र को एक बड़े यक्ष की मदद थी, जिससे वह किसी से मारा नहीं जाता था।

दंष्ट्राविनाशी यक्ष पुष्यमित्र संबंधी यक्ष को लेकर पहाड़ों में फिरने को चला गया। इधर कृमीसेन यक्ष ने एक बड़ा पहाड़ लाकर सेना सहित पुष्यमित्र को रोक लिया।

उस (पुष्यमित्र) का 'मुनिहत' ऐसा नाम स्थापित किया।

जब पुष्यमित्र मारा गया तब मौर्यवंश का अंत हुआ।

जिसका आशय ऊपर दिया गया है वह दिव्यावदान का मूल पाठ नीचे दिया जाता है—

"× × × पुष्यधर्मणः पुष्यमित्रः, सोऽमात्यानामंत्रयते कः उपायः स्याद् यद् अस्माकं नाम चिरं तिष्ठेत। तैरभिहितं देवस्य च वंशादशोको नाम्ना राजा बभूवेति, तेन चतुरशीतिधर्मराजिकासहस्रं प्रतिष्ठापितं यावद्-भगवच्छासनं प्राप्यते तावद्स्य यशः स्थास्यति, देवोऽपि चतुरशीतिधर्मराजिका-सहस्रं प्रतिष्ठापयतु। राजाह। महेशाख्यो राजाऽशोको बभूव; अन्यः कश्चिदुपाय इति। तस्य ब्राह्मणपुरोहितः पृथग्जनोऽश्राद्धः, तेनाभिहितं देव! द्वाभ्यां कारणाभ्यां नाम चिरं स्थास्यति × × × यावद्राजा पुष्यमित्रः चतुरंगबलकायं संनाहयित्वा भगवच्छासनं विनाशयिष्यामीति कुक्कुटारामं निर्गतः। द्वारे च सिंह-नादो मुक्तः, यावत्स राजा भीतः पाटलिपुत्रं प्रविष्टः, एवं द्विरपि त्रिरपि, यावद् भिक्षूंश्च संघमाहूय कथयति भगवच्छासनं नाशयिष्यामीति किमिच्छथ स्तूपं संघारामान् वा? भिक्षुभिः परिगृहीता यावत्पुष्यमित्रो यावत्संघारामं भिक्षूंश्च प्रघातयन् प्रस्थितः स यावत् शाकलमनुप्राप्तः। तेनाभिहितं यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याऽहं दीनारशतं दास्यामि। धर्मराजिका वार्हद्बुद्ध्या शिरो दातुमा-रब्धं श्रुत्वा च राजाऽर्हन्तं प्रघातयितुमारब्धः, स च निरोधं संपन्नः, तस्य परोपक्रमो न क्रमते, स यत्नमुत्सृज्य यावत् कोष्ठकं गतः, दंष्ट्राविनाशी यक्षश्चिन्तयति इदं भगवच्छासनं विनश्यति, अहं च शिक्षां धारयामि 'न मया शक्यं कस्यचिदप्रियं कर्तुं', तस्य दुहिता कृमिसेन यक्षेण याच्यते न चानुपर्यच्छति त्वं पापकर्मकारीति, यावत्सा दुहिता कृमिसेनस्य दत्ता, भगवच्छासनपरित्राणार्थं परिग्रहपरिपालनार्थं च, पुष्यमित्रस्य राज्ञः पृष्ठतः यक्षो महान् प्रमाणे यूयं (?) तस्यानुभावात् स राजा न प्रतिहन्यते यावद् दंष्ट्राविनाशी यक्षस्तं पुष्यमित्रानुबन्धयक्षं प्रगृह्य पर्वतचर्येऽचरत् यावद्दक्षिणमहासमुद्रं गतः, कृमिसेनेन च यक्षेण महान्तं पर्वतं

आनयित्वा पुष्यमित्रो राजा सबलवाहनोऽवष्टब्धः, तस्य 'मुनिहत' इति संज्ञा व्यवस्थापिता, यदा पुष्यमित्रो राजा प्रघातितस्तदा मौर्यवंशः समुच्छिन्नः।''

—दिव्यावदान २६ पृ० ४३०—४३४।

बौद्धों के इस लेख से ज्ञात होता है कि धर्मांध पुष्यमित्र ने पाटलिपुत्र से साकल (स्यालकोट—पंजाब) तक के बौद्ध विहारों का नाश कर दिया था और बौद्ध भिक्षुओं को मरवाया था।

जैन धर्म और जैन श्रमणों के ऊपर पुष्यमित्र ने क्या अत्याचार किया था इसका स्पष्ट लेख यद्यपि जैन ग्रंथों में नहीं मिलता तथापि महानिशीथ, तित्थोगाली पइन्नय आदि जैन ग्रंथों में जो कल्की राजा के अत्याचारों का वर्णन उपलब्ध होता है, वह मेरे खयाल से पुष्यमित्र के कर्तव्यों का ही अन्योक्तिक वर्णन है। इस बात को समझने के लिये यहाँ हमको कल्की संबंधी पुराणों तथा जैन ग्रंथों के लेख विचारने होंगे।

कल्कि के संबंध में 'पुराणकार' इस प्रकार लिखते हैं—

'जब कलियुग पूरा होने लगेगा तब धर्मरक्षण के लिये शंभल गाम के मुखिया विष्णुयश ब्राह्मण के यहाँ भगवान् विष्णु कल्कि के रूप में अवतार लेंगे।

'कल्कि देवदत्त नामक तेज घोड़े पर सवार हो के खड्ग से दुष्टों और राज-वेश में रहते हुए सब लुटेरों का नाश करेगा। जो म्लेच्छ हैं, जो अधार्मिक और पाखंडी हैं वे सब कल्कि से नष्ट किए जायँगे।'

पाठकों के अवलोकनार्थ हम पुराणों के उन श्लोकों को यहाँ उद्धृत करते हैं जिनमें कल्कि के कर्तव्यों का वर्णन है।

"इत्थं कलौ गतप्राये, जनेषु खरधर्मिणि।
धर्मत्राणाय सत्त्वेन, भगवानवतरिष्यति॥ १६॥
चराचरगुरोर्विष्णोरीश्वरस्याखिलात्मनः।
धर्मत्राणाय साधूनां, जन्मकर्मापनुत्तये॥ १७॥
शंभलग्राममुख्यस्य, ब्राह्मणस्य महात्मनः।
भवने विष्णुयशसः, कल्किः प्रादुर्भविष्यति॥ १८॥
अश्वमाशुगमारुह्य, देवदत्तं जगत्पतिः।
असिनाऽसाधुदमनमष्टैश्वर्यसमन्वितः॥ १९॥
विचरन्नाशुना क्षोण्यां, हयेनाऽप्रतिमद्युतिः।
नृपलिंगच्छदो दस्यून्कोटिशो निहनिष्यति॥ २०॥"

—श्रीमद्भागवत १२ स्कंध, अ० २, पृ० १०३०—१०३४।

"कल्किना व्याहताः सर्वे, म्लेच्छा यास्यन्ति संक्षयम्॥ २०६॥
अधार्मिकाश्च येऽत्यर्थं पाखण्डाश्चैव सर्वशः॥"

—ब्रह्माण्डपुराण म० भा० उपो० पा० ३ अ० ७४ पृ० १८६—१८८।

पुराणों के इन लेखों से यह तो स्पष्ट है कि कल्कि वैदिक धर्म का उद्धारक होगा। इतना ही नहीं बल्कि वह अधर्मी और पापंडियों (अन्य दार्शनिकों) का नाश करनेवाला होगा।

अब इसी कल्कि के संबंध में जैनों की क्या मान्यता है सो भी देखिए—

(१) तित्थोगाली में लिखा है—

'शक से १३२३ (वीर निर्वाण १९२८) वर्ष व्यतीत होंगे तब कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) में दुष्टबुद्धि कल्कि का जन्म होगा।'

(२) कालसप्ततिका प्रकरण में लिखा है—

'वीर निर्वाण से १९१२ वर्ष और ५ मास बीतने पर पाटलिपुत्र नगर में चंडाल के कुल में चैत्र की अष्टमी के दिन श्रमणों (साधुओं) का विरोधी जन्मेगा जिसके तीन नाम होंगे—१ कल्की, २ रुद्र और ३ चतुर्मुख।'

(३) दीपमाला कल्प में जिनसुन्दर सूरि लिखते हैं—

'वीर निर्वाण के १९१४ वर्ष व्यतीत होंगे तब पाटलिपुत्र में म्लेच्छ कुल में यश की स्त्री यशोदा की कुक्षि से चैत्र शुक्ल ८ की रात में कल्कि का जन्म होगा।'

(४) उपाध्याय क्षमाकल्याण अपने दीपमाला कल्प (पृष्ठ ४५) में लिखते हैं—

'मुझसे (वीर निर्वाण से) चार सौ पचहत्तर (४७५) वर्ष बीतने पर विक्रमादित्य नाम का राजा होगा। उसके बाद करीब १२४ वर्ष के भीतर (निर्वाण संवत् ५९९ में) पाटलिपुर नामक नगर में × × × चतुर्मुख (कल्कि) का जन्म होगा।'

(५) दिगंबराचार्य नेमिचंद्र अपने 'तिलोयसार' नामक ग्रंथ में लिखते हैं—

'वीर निर्वाण से ६०५ वर्ष और ५ मास बीतने पर 'शक राजा' होगा और उसके बाद ३९४ वर्ष और ७ मास में अर्थात् निर्वाण संवत् १००० में कल्की होगा।'

कल्की के समय के संबंध में जैन आचार्यों की जो भिन्न भिन्न मान्यताएँ हैं उनका निर्देश ऊपर कर दिया। अब हम कल्की के समय में बनी हुई घटनाओं का संक्षिप्त वर्णन करेंगे जो 'इस विषय के सबसे प्राचीन ग्रंथ तित्थोगाली पइन्नय तथा महानिशीथ सूत्र में दिया हुआ है।'

(६) तित्थोगाली पइन्नय में लिखा है—

'कल्कि का जन्म होगा तब मथुरा में राम और कृष्ण के मंदिर गिरेंगे और विष्णु के उत्थान (कार्तिक शुदि ११) के दिन वहाँ जनसंहारक घटना होगी।'

(७) इस जगत्प्रसिद्ध पाटलिपुत्र नगर में ही 'चतुर्मुख' नाम का राजा होगा। वह इतना अभिमानी होगा कि दूसरे राजाओं को तृण समान गिनेगा। नगरचर्या में निकला हुआ वह नंदों के पाँच स्तूपों को देखेगा और उनके संबंध में पूछताछ करेगा, तब उसे उत्तर में कहा जायगा कि यहाँ पर बल, रूप, धन और यश से समृद्ध नंद राजा बहुत समय तक राज कर गया है, उसी के बनवाए हुए ये स्तूप हैं। इनमें उसने सुवर्ण गाड़ा है जिसे दूसरा कोई राजा ग्रहण नहीं कर सकता। यह सुन कल्की उन स्तूपों को खुदवाएगा और उनमें का तमाम सुवर्ण ग्रहण कर लेगा। इस द्रव्य-प्राप्ति से उसकी लालच बढ़ेगी और द्रव्यप्राप्ति की आशा से वह सारे नगर को खुदवा देगा। तब जमीन में से एक पत्थर की गौ निकलेगी जो 'लोणदेवी' कहलाएगी।

लोणदेवी आम रास्ते में खड़ी रहेगी और भिक्षा निमित्त जाते आते साधुओं को मार गिरावेगी, जिससे उनके भिक्षा-पात्र टूट जायँगे, तथा हाथ पैर और शिर भी फूटेंगे और उनको नगर में चलना फिरना मुश्किल हो जायगा।

तब महत्तर (साधुओं के मुखिया) कहेंगे—श्रमणो! यह अनागत दोष की—जिसे भगवान् वर्द्धमान स्वामी ने अपने ज्ञान से पहले ही देखा था—अग्र सूचना है। साधुओ! यह गौ वास्तव में अपनी हितचिन्तिका है। भावी संकट की सूचना करती है, इस वास्ते चलिए, जल्दी हम दूसरे देशों में चले जायँ!

गौ के उपसर्ग से जिन्होंने जिन-वचन सत्य होने की संभावना की वे पाटलिपुत्र को छोड़कर अन्य देश को चल गए। पर बहुतेरे नहीं भी गए।

गंगाशोण के उपद्रव विषयक जिन-वचन को जिन्होंने सुना वे वहाँ से अन्य देश को चले गए और कई एक नहीं भी गए।

'भिक्षा यथेच्छ मिल रही है, फिर हमें भागने की क्या जरूरत है?' यह कहते हुए कई साधु वहाँ से नहीं गए।

दूर गए भी पूर्वभविक कर्मों के तो निकट ही हैं। नियमित काल में फलनेवाले कर्मों से कौन दूर भाग सकता है? मनुष्य समझता है, मैं भाग जाऊँ ताकि शांति प्राप्त हो, पर उसे मालूम नहीं कि उसके भी पहले कर्म वहाँ पहुँचकर उसकी राह देखते हैं।

वह दुर्मुख और अधर्म्यमुख राजा चतुर्मुख (कल्की) साधुओं को इकट्ठा करके उनसे कर माँगेगा और न देने पर श्रमणसंघ तथा अन्य मत के साधुओं को कैद करेगा। तब जो सोना चाँदी आदि परिग्रह रखनेवाले साधु होंगे वे सब 'कर' देकर छूटेंगे। कल्की उन पाखंडियों का जबरन् वेष छिनवा लेगा।

लोभग्रस्त होकर वह साधुओं को भी तंग करेगा। तब साधुओं का मुखिया कहेगा—'हे राजन्! हम अकिंचन हैं, हमारे पास क्या चीज है जो तुझे कर स्वरूप दी जाय?' इस पर भी कल्की उन्हें नहीं छोड़ेगा और श्रमण-संघ कई दिनों तक वैसे ही रोका हुआ रहेगा। तब नगरदेवता आकर कहेगा—'अये निर्दय राजन्! तू श्रमण-संघ को हैरान करके क्यों मरने की जल्दी तैयारी करता है, जरा सबर कर। तेरी इस अनीति का आखिरी परिणाम तैयार है।' नगरदेवता की इस धमकी से कल्की घबरा जायगा और आर्द्र वस्त्र पहिनकर श्रमणसंघ के पैरों में पड़कर कहेगा 'हे भगवन्! कोप देख लिया अब प्रसाद चाहता हूँ।' इस प्रकार कल्की का उत्पात मिट जाने पर भी अधिकतर साधु वहाँ रहना नहीं चाहेंगे, क्योंकि उन्हें मालूम हो जायगा कि यहाँ पर निरंतर घोर वृष्टि से जलप्रलय होनेवाला है।

तब वहाँ नगर के नाश की सूचना करनेवाले दिव्य आंतरिक्ष और भौम उत्पात होने शुरू होंगे कि जिनसे साधु साध्वियों को पीड़ा होगी। इन उत्पातों से और अतिशायी ज्ञान से यह जानकर कि—'सांवत्सरिक पारणा के दिन भयंकर उपद्रव होनेवाला है'—साधु वहाँ से विहार कर चले जायँगे। पर उपकरण मकानों और श्रावकों का प्रतिबंध रखनेवाले तथा भविष्य पर भरोसा रखनेवाले साधु वहाँ से जा नहीं सकेंगे।

तब सत्रह रात दिन तक निरंतर वृष्टि होगी जिससे गंगा और शोण में बाढ़ आएँगी। गंगा की बाढ़ और शोण के दुर्धर वेग से यह रमणीय पाटलिपुत्र नगर चारों ओर से बह जायगा। साधु जो धीर होंगे वे आलोचना प्रायश्चित्त करते हुए और जो श्रावक तथा वसति के मोह में फँसे हुए होंगे वे सकरुण दृष्टि से देखते हुए मकानों के साथ ही गंगा के प्रवाह में बह जायँगे। जल में बहते हुए वे कहेंगे—'हे स्वामि सनत्कुमार! तू श्रमणसंघ का शरण हो, यह वैयावृत्य करने का समय है।' इसी प्रकार साध्वियाँ भी सनत्कुमार की सहायता माँगती हुई मकानों के साथ बह जायँगी। इनमें कोई कोई आचार्य्य और साधु साध्वियाँ फलक आदि के सहारे तैरते हुए गंगा के दूसरे तट पर उतर जायँगे। यही दशा नगरनिवासियों की भी होगी। जिनको नाव फलक आदि की मदद मिलेगी वे बच जायँगे, बाकी मर जायँगे। राजा का खजाना पाडिवत आचार्य्य और कल्की राजा आदि किसी तरह बचेंगे पर अधिकतर बह जायँगे। अन्य दर्शन के साधु भी इस प्रलय में बहकर मर जायँगे। बहुत कम मनुष्य ही इस प्रलय से बचने पायँगे।

इस प्रकार पाटलिपुत्र के बह जाने पर धन और कीर्ति का लोभी कल्की दूसरा नगर बसाएगा और बाग बगीचे लगवाकर उसे देवनगर-तुल्य रमणीय

बना देगा। फिर वहाँ देवमंदिर बनेंगे और साधुओं का विहार शुरू होगा। अनुकूल वृष्टि होगी और अनाज वगैरह इतना उपजेगा कि उसे खरीदनेवाला नहीं मिलेगा। इस प्रकार ५० वर्ष सुभिक्ष से प्रजा अमन चैन में रहेगी।

इसके बाद फिर कल्की उत्पात मचाएगा, पाषंडियों के वेष छिनवा लेगा और श्रमणों पर भी अत्याचार करेगा। उस समय कल्पव्यवहारधारी तपस्वी युगप्रधान आचार्य्य पाडिवत तथा दूसरे साधु दुःख की निवृत्ति के लिये छट्ठ अट्ठम का तप करेंगे। तब कुछ समय के बाद नगरदेवता कल्की से कहेगा— 'अये निर्दयी! तू श्रमणसंघ को तकलीफ देकर क्यों जल्दी मरने की तैयारी कर रहा है? जरा सबर कर, तेरे पापों का घड़ा भर गया है।' नगर-देवता की इस धमकी की कुछ भी परवाह न करता हुआ वह साधुओं से भिक्षा का षष्ठांश वसूल करने के लिये उन्हें बाड़े में कैद करेगा। साधुगण सहायतार्थ इंद्र का ध्यान करेंगे तब अंबा और यक्ष कल्की को चेताएँगे, पर वह किसी की नहीं सुनेगा। आखिर में संघ के कायोत्सर्ग ध्यान के प्रभाव से इंद्र का आसन कँपेगा और वह ज्ञान से संघ का उपसर्ग देखकर जल्दी वहाँ आएगा। धर्म की बुद्धिवाला और अधर्म का विरोधी वह दक्षिण लोकपति (इंद्र) जिन-प्रवचन के विरोधी कल्की का तत्काल नाश करेगा।

उग्रकर्मा कल्की उग्र नीति से राज करके ८६ वर्ष की उमर में निर्वाण से २००० वर्ष बीतने पर इंद्र के हाथ से मृत्यु पाएगा। तब इंद्र कल्की के पुत्र दत्त को हित शिक्षा दे श्रमण-संघ की पूजा करके अपने स्थान पर चला जायगा।

(८) दीपालिका कल्प में जिनसुंदर सूरि लिखते हैं—

'निर्वाण से २००० वर्ष पूरे होंगे तब भाद्रपद शुदि ८ के दिन इंद्र के चपेट-प्रहार से ८६ वर्ष की उमर में मरकर कल्की नरक में जायगा।'

(९) 'महानिशीथ' सूत्र के ५वें अध्ययन में कल्की के संबंध में गौतम स्वामी का प्रश्नोत्तर है, जिसका सार इस प्रकार है—

गौतम—'भगवन्! श्रीप्रभ नामक अनगार किस समय होगा?'

महावीर—'हे गौतम! जिस वक्त निकृष्ट लक्षणवाला, अद्रष्टव्य, रौद्र, उग्र और क्रोधी प्रकृतिवाला, उग्र दंड देनेवाला, मर्यादा और दयाहीन, अति क्रूर और पापबुद्धि-वाला, अनार्य, मिथ्यादृष्टि ऐसा कल्की नाम का राजा होगा, जो पापी श्रीश्रमणसंघ की भिक्षा के निमित्त कदर्थना करेगा, और उस वक्त जो शीलसमृद्ध और सत्त्ववंत, तपस्वी साधु होंगे उनकी ऐरावतगामी वज्रपाणि इंद्र आकर सहायता करेगा। उस समय श्रीप्रभ नामक अनगार होगा।'

जिनका सारांश ऊपर दिया गया है, वे तित्थोगाली आदि ग्रंथों के मूल-पाठ क्रमशः नीचे दिए जाते हैं। पाठक महोदय देखेंगे कि कल्की के संबंध में जैन ग्रंथकारों की मान्यता क्या है।

(१) "सगवंसस्स य तेरस—सयाइं तेवीसइं होंति वासाइं।
होही जम्मं तस्स उ कुसुमपुरे दुट्ठबुद्धिस्स ॥ ६२४ ॥"
—तित्थोगाली पइन्नय।

(२) "वीर जिणा गुणवीस-सएहिं पणमासवारवरिसेहिं।
चंडालकुले होही, पाडलपुरि समण पडिकूलो ॥ ४४ ॥
चित्तट्ठमि विट्ठिभवो, कक्की १ रुद्दो २ चउमुह ३ तिनामा" ॥
—धर्मघोषसूरि कृत कालसप्ततिका।

(३) "मन्निर्वृतेर्गतेष्वब्द-शतेष्वेकोनविंशतौ।
चतुर्दशसु चाब्देषु, चैत्रशुक्लाष्टमीदिने ॥ २३१ ॥
विष्टौ म्लेच्छाकुले कल्की, पाटलीपुरपत्तने।
रुद्रश्चतुर्मुखश्चेति धृताऽपराह्वयद्वयः ॥ २३२ ॥
यशोगृहे यशोदायाः, कुक्षौ स्थित्वा त्रयोदश।
मासान् मघौ सिताष्टम्यां, जयश्रीवासरे निशि ॥ २३३ ॥
षष्ठे मकरलग्नांशे, वहमाने महीसुते।
वारे कर्कस्थिते चन्द्रे, चन्द्रयोगे शुभावहे ॥ २३४ ॥
प्रथमे पादेऽश्लेषायाः, कल्किजन्म भविष्यति।"
—जिनसुन्दरसूरि कृत दीपालिकल्प।

(४) "मत्तः पंचसप्तत्यधिकचतुःशता (४७५) ब्दव्यतीते सति विक्रमादित्यनामको राजा भविष्यति। ततः किंचिदूनचतुर्विंशत्यधिकशतवर्षान्तरं पाटलिपुरनाम्नि नगरे × × × चतुर्मुखस्य जन्म भविष्यति।"
—क्षमाकल्याण कृत दीपमालाकल्प।

(५) "पणछस्सय वस्स पण मास जुदं गमिय वीरणिव्वुइदो।
सगराजो तो कक्की, तिचदुणवतिमहियसगमासं ॥"
—नेमिचंद्रीय त्रिलोकसार।

(६) "तइया भुवणं पडणस्स (तइया य भुवण पडणं ?)
जंमनगरीए रामकण्हाणं।
घोरं जण घ(स)य करं, पडिवोहदिणे य विण्हुस्स ॥ ६२८ ॥"
—तित्थोगाली पइन्नय।

(७) "जं एयं वर नगरं, पाडलिपुत्तं तु विसुए (विस्सु यं) लोए।
एत्थं होही राया, चउमुहो नाम नामेणं ॥ ३५ ॥

सो अविण्णयपज्जत्तो, अण्णनरिंदे तयां पिव गणंतो ।
नगरं आहिंडंतो, पेच्छीहि पंच थूभेउ ॥ ३६ ॥
पुट्ठा य बेंति मणुया, नरो ! राया चिरं इहं आसि ।
बलितो अत्थसमिद्धो, रूवसमिद्धो, जससमिद्धो ॥ ३७ ॥
तेण इहहं हिरण्णं निक्खित्तंसि (?) बहुबलपमत्तेणं ।
नय णं तरंति अण्णे रायाणो दाणि घित्तुंजे ॥ ३८ ॥
तं वयणं सोऊणं, खणेहीति समंततो ततो थूभे ।
नंदस्स सैतियं तं परि (हि) वज्जइ सो अह हिरण्णं ॥ ३९ ॥
सो अत्थपडिबद्धो अण्णनरिंदे तणेवि अगणिंतो ।
अह सव्वभोमयाइ तं (?) खणाविही पुरवरं सव्वं ॥ ४० ॥
नामेण लोणदेवी, गावीरूवेण नाम अहिउत्था ।
धरणिय लाउ जुया, दीसिही सिलामयी गावी ॥ ४१ ॥
सा किर बहुया गावी, होऊणं राय मग्गमोतिण्णा ॥
साहुजणं हिंडंतं, पाहिट्ठी (?) सुसुयायंती ॥ ४२ ॥
ते भिण्णभिखूभायण—विलोलिया भिण्णकोप्परनिडाला ।
भिक्खं पि दुम्मयागणा न चयंति हु हिंडिउं नगरे ॥ ४३ ॥
वोच्छति य भय हरणा, आयरिय परंपरागयं सयं ।
एम्म अणागय दोसो, चिरदिट्ठो बद्धमाणेण ॥ ४४ ॥
अण्णंवि अत्थि देसो, लहुं लहुं ता इतो अवक्कमिमो ।
एसा विहु अणुकंपइ, गावीरूवेण अहिउत्था ॥ ४५ ॥
गावीए उवसग्गा, जिणवरवयणं च जे सुणेहिंति ।
गच्छंति अण्णदेसं, तहवि य बहवे न गच्छंति ॥ ४६ ॥
गंगा सोणुवमग्गं, जिणवर वयणं च जे सुणेहिंति ।
गच्छंति अण्णदेसं, तहवि य बहुया न गच्छंति ॥ ४७ ॥
किं अम्ह पलाएणं, भिरकस्स किमिच्छियाइ लब्भंते ।
एवंति जंपमाणा, तहवि य बहुया न गच्छंति ॥ ४८ ॥
पुव्वभव निम्मियाणं, दूरे नियडे व्व अखियरंताणं ।
कम्माण कोपलायइ, कालतुलासंविभत्ताणं ॥ ४९ ॥
दूरं वच्चइ पुरिसो, तत्थ गतो निव्वुइं लभिस्सामि ।
तत्थवि पुव्वकयाइं, पुव्वगयाइं पडिक्खंति ॥ ५० ॥
अह दाणि सो नरिंदो, चउम्मुहो दुम्मुहो अधम्ममुहो ।
पासंडे पिंडेउं, भणिही सव्वे करं देहा ॥ ५१ ॥

रुद्धो य समणसंघो, अच्छिहीति सेसया य पासंडा ।
सव्वे दाहिंति करं, सहिरण्णा सुवण्णिगा जत्था ॥ ५२ ॥
सव्वे य कुपासंडे, मोयावेहि बला सलिंगाइं ।
अइतिव्व लोह घत्थो, समणेवि अभिद्दवेसी य ॥ ५३ ॥
वोच्छंति य भय हरणा, अम्हं दायव्वयं किंचित्थं ।
जं नाम तुब्भ जब्भा, करेहि तं दायमी राय ॥ ५४ ॥
रोसेण सूसयंतो, सो कइवि दिणा तहेव अच्छिही ।
अह नगरदेवया तं, अप्पणिणा भणिही राय ॥ ५५ ॥
किं तूरसि मरिउं जे, निसंस किं बाहसे समणसंघं ।
सज्जंते पज्जत्तं, नणु कइदीहं पडिच्छाहि ॥ ५६ ॥
उल्लपडसाडओ सो, पडिओ पाएहि (पाएसु) समणसंघस्स ।
कोवो दिट्ठो भयवं, कुणह पसायं पसाएमि ॥ ५७ ॥
किं अह्म पसाएणं, तहवि य बहुया तहिं न इच्छंति ।
घोरनिरंतरवासं, अह वासं दाईं वासिहति ॥ ५८ ॥
दिव्वंतरिक्खभोमा, तइया होहिंति नगरनासाय ।
उप्पाया उ महल्ला, सुसमणसमणीण पीडकरा ॥ ५९ ॥
संवच्छरपारणए, होहि असिवंति तो ततो विंति ।
सुत्तत्थं कुव्वंता, अइसयमाईहिं नऊण ॥ ६० ॥
गंतु पि न चायंति, केइ उवगरणवसहिपडिबद्धा ।
केइ सावगनिस्सा, केइ पुण जंभविस्सा उ ॥ ६१ ॥
तं दाणि समणुबद्धं, सतरसरातिंदियाइँ वासिहीति ।
गंगा सोणा य सरो, उव्वत्तइ तेण वेगेणं ॥ ६२ ॥
गंगाए वेगेण य, सोणस्स य दुद्धरेण सोतेणं ।
अह सव्वतो महंता, वुज्झिही पुरवरं रम्मं ॥ ६३ ॥
आलोइय मयसल्ला, पच्चरकाणेसु भणियमुज्जुत्ता ।
उच्छप्पिहिंत्ति साहु, गंगाए अग्गवेगेण ॥ ६४ ॥
केइत्थ साहुवग्गा, उवगरणे भणियरागपडिबद्धा ।
कलुणाइं पलोईंता, वसहीसहिया तो वुज्झंति ॥ ६५ ॥
सामिय सणं कुमारा सरणं ता होहि समणसंघस्स ।
इणमो वेयावच्चं, भणमाणाणं त (न) वट्टिहीति ॥ ६६ ॥
आलोइयतिसल्ला, पच्चरकाणेसु भणिय मुज्जंता ।
उच्छपिहिंति समणी, गंगाए अग्गवेगेणं ॥ ६७ ॥

काओवि साहुणीओ, उवगरणधणियरागपडिबद्धा ।
कलुण पलोयणियातो, वसही सहीयातो वुज्झंति ॥ ६८ ॥
सामियसणंकुमारा, सरणं ना होहि समणसंघस्स ।
इणमो वेयविज्ज', भणमाणीयं न बूठिहीति ॥ ६९ ॥
आलोइय तिसल्ला, समणीउ पवरकाइऊण उज्जुत्ता ।
उच्छिप्पिहिंति धणिय', गंगाए अग्गवेगेणं ॥ ७० ॥
केई फलगविलग्गा, वच्च'ति समणसमणीण संघाया ।
आयरियादी य तहा, उतिन्ना बीय कूलंमि ॥ ७१ ॥
नगरजणो वियवूढो, केई लहूण फलगखंडाइं ।
समुतिन्नो बीय तडं, कोई पुण तत्थ निहणगतो ॥ ७२ ॥
रण्णो य अत्थजायं', पाडिववतो चेव कक्किराया य ।
एवं हवइ इवुट्ठं', वहुयं बूढं जभोहणा (?) ॥ ७३ ॥
पासंडा विय वण्हा (?) बूढा वेगेण कालसंपत्ता ।
चोइवरंतिज्जे (?) वा पविरलमणु पंचसंजाया (?) ॥ ७४ ॥
सो अत्थ पडिबद्धो, मज्झं होही जसो य कित्ती य ।
तंमि य नगरे वूढे, अण्णं नगरं निविसिहीति ॥ ७५ ॥
अह सव्वतो समंता, कारेही पुरवरं महारंभं ।
आरा मुज्जाणजुयं, विरायते देवनगरं व ॥ ७६ ॥
पुणरवि आयतणाइं, पुणरवि साहू य तत्थ विहरंति ।
सम्मं च वुट्ठिकाओ, वासिहिति सेती य वड्ढिहिति ॥ ७७ ॥
पडिएणवि कुंभेणं, किणंतया य तहिं न होंति ।
पण्णासंवासाइ, होही य समुब्भवो कालो ॥ ७८ ॥
पुणरवि य कुपासंडे, मेल्लाविहिति बला सलिंगाइं ।
अइतिव्व लोहवत्थो, समणेवि अभिद्दवेसी य ॥ ७९ ॥
तइया वि कप्पवहार, धारओ संजतो तवाउत्तो ।
आणादिट्ठी समणो, भावियसुत्तो पसंतमणो ॥ ८० ॥
वीरेण समाइट्ठो, तित्थोगालीए जुगप्पहाणोत्ति ।
सासणउण्णतिजणणो, आयरितो होहिति धीरो ॥ ८१ ॥
पाडिवतो नामेणं, अणगारो तह य सुविहिया समणा ।
दुक्खपरिमोयणट्ठा, छट्ठट्ठमतवे काहिंति ॥ ८२ ॥
रोसेण मिसिमिसंतो, सो कइ दीहं तहेव अच्छी य ।
नगरदेवयाउ, अप्पियणिया वेति वेसीया ॥ ८३ ॥

किं तूरसि मारिउं जे, विस्संस किं वाहसे समणसंघं ।
सव्वं तं पज्जत्तं, ननु कइदीहं पडिच्छाहि ॥ ८४ ॥
तासिंपि य असुणंतो, छट्ठं भिक्खस्स मग्गए भागं ।
काउसग्गं चिट्ठिय, सव्वस्साराहणट्ठारा ॥ ८५ ॥
गोवाडंमि निरुद्धा, समणा रोसेण मिसमिसायंता ।
अंश जक्खो य भणंति, राय कट्ठेहिं सप्पंति ॥ ८६ ॥
काउसग्गठिएसु, सव्वस्साकंपियं तउट्ठाणं ।
आभोइय ओहीए, खिप्पं ति दसाहि वो राइ ॥ ८७ ॥
सो दाहिणलोगपती, धम्माणुयती अहम्मदुट्ठमती ।
जिणवयणपडिकुट्ठं, नासिहिति खिप्पमेव तयं ॥ ८८ ॥
छासीतीउ समाउ, अग्गो उग्गाइ दंडनीतीए ।
मोत्तुं गच्छति निहणं, निव्वाणसहस्स दो पुन्ने ॥ ८९ ॥
तस्स य पुत्तं दत्तं, इंदो अणुसासिऊण जणमज्झे ।
काऊण पाडिहेरं, गच्छइ समणे पणमिऊणं ॥ ९० ॥"

(८) " इत्युदित्वा स शक्रेण, मम निर्वाणतो गते ।
वर्षसहस्रद्वितये, भाद्रशुक्लाष्टमीदिने ॥ २८४ ॥
ज्येष्ठश्च रविवारे च, चपेटाप्रहतो रुपा ।
षडशीतिसमायुष्कः, कल्कीराड् नरकं गमी ॥ २८५ ॥"

—जिनसुन्दरीय दीपालिकल्प ।

(९) " से भगवं केवइएणं कालेणं से सिरिप्पभे अणगारे भवज्जा ?, गोयमा इहाही दुरंतपंत लक्खणो अदट्ठव्वे रोद्दे चंडे पयंडे उग्ग-पयंडदंडे निम्मिरे निक्किवे निग्घिणे नित्तिंसे कूरपरपावमई अणारियमिच्छदिट्ठी कक्की नाम रायाणे से णं पावे पाहुडियं भमाडिउकाये सिरिसमणसघंकयत्थेज्जा जाव णं कयत्थे ताव णं गोयमा जे केई तत्थ सीलड्ढे महाणुभागे अचलियसत्ते तवोहणे अणगारे तेसिं च पाडिहेरियं कुज्जा सोहम्मे कुलिसपाणी एरावण-गामी सुरवरिंदे ।"

—महानिशीथ ५ । ४६ ।

उपर्युक्त पौराणिक और जैन वर्णनों से यह बात तो प्रायः निश्चित है कि दोनों मतवालों का कथन एक ही व्यक्ति के संबंध में है ।

यद्यपि पुराणकार कल्कि का जन्म कलियुग के अंत में शंभल गाम में बताते हैं और जैन निर्वाण की बीसवीं सदी में पाटलिपुत्र में, तब भी हमें इन बातों की ओर खयाल न करके यही कहना चाहिए कि दोनों धर्मवालों का

कल्कि एक ही है। क्योंकि जो कल्कि का वर्णन पुराणों में है, वही जैन ग्रंथों में भी है। भेद इतना ही है कि पुराणकार उसके कामों को अवतारी पुरुषों के कार्यों में गिनते हैं और जैन एक अन्यायी और अत्याचारी राजा के नाम से उसकी निंदा करते हैं। दोनों का कथन सापेक्ष है, और उसका कारण स्पष्ट है।

अब हम इन कथनों की समालोचना करके देखेंगे कि इनमें कुछ ऐतिहासिक अंश भी है या कल्की विषयक वर्णन निराधार कल्पना ही है।

पुराणकार प्रद्योतों के समय से ही धार्मिकता की अपेक्षा से राजाओं की शिकायत करते मालूम होते हैं। प्रद्योत के लिये तो वे स्पष्ट कहते हैं कि—'वह सामंतों से पूजित होगा, धर्म से नहीं।'

"स वै प्रणतसामन्तो भविष्यो न च धर्मतः।"

—मत्स्यपुराण, अ० २७१।

शैशुनाग वंश के मगध राजाओं को भी पुराणकार 'क्षत्रबंधु' अर्थात् पतित क्षत्रिय कहते हैं—

"शिशुनाका भविष्यंति राजानः क्षत्रबंधवः॥ १२॥"

—मत्स्यपुराण, अ० २७२।

"शिशुनागा दशैवैते राजानः क्षत्रबंधवः।"

—ब्र० म० भा० उ० पा० ३ अ० ७४।

वायुपुराण में तो शैशुनागों के अतिरिक्त दूसरे राजाओं को भी पतित क्षत्रिय कहा है। देखो नीचे का श्लोक—

"शैशुनाका भविष्यंति तावत्कालं नृपाः परे।
एतैः सार्द्धं भविष्यंति, राजानः क्षत्रबांधवाः॥ ३१६॥"

—वायु० पु० उ० अ० ३७।

शैशुनागों के पीछे भारतवर्ष का राजमुकुट नंद के शिर चढ़ता है। नंद को तो पुराणकार शूद्रा का पुत्र कहते ही हैं, परंतु इसके साथ ही वे भविष्य के राजाओं की जाति का भी खुलासा कर देते हैं कि 'तब से शूद्र राजा होंगे।'

पुराणों के इन उल्लेखों का यदि कोई कारण हो सकता है तो यही कि प्रद्योत, शैशुनाग, नंद और मौर्यों के समय में ब्राह्मणों को राज्याश्रय नहीं मिलता था। प्रद्योत और शैशुनाग राजा जैन और बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, और लगभग यही बात नंद और मौर्यों के संबंध में भी थी। इस कारण से ब्राह्मण साम्राज्य कमजोर हो चला था। ठीक इसी समय में शुंग पुष्यमित्र ने मगध की राजगद्दी अपने अधिकार में की और चिर काल से राज्याश्रय से वंचित वैदिक धर्म की एकदम उन्नति करने के लिये उसने अपनी राजशक्ति का यथाशक्य प्रयोग किया। बौद्धों के मठ-मंदिर तोड़े, बौद्ध जैन और इतरधर्मी साधुओं के वेष

छीन छीन उन्हें ब्राह्मण धर्म में जोड़ा। जिन्होंने न माना उनके शिर उड़ाए, और अश्वमेधादि यज्ञ करके कुछ समय से विस्मृत हुई वैदिक क्रियाओं का पुनरुद्धार किया।

पुष्यमित्र के उक्त कामों ने ब्राह्मण समाज को संतुष्ट कर दिया। इतना ही नहीं बल्कि उनके मन में ऐसी भावना का बीज बो दिया जो आगे जाकर अवतार की कल्पना के रूप में प्रगट हुआ। सचमुच ही कल्की का वर्णन एक सत्य घटना का कल्पना-मिश्र इतिहास है।

जैन वर्णनों में तो कतिपय बातें प्रकटतया इस घटना की ऐतिहासिकता के प्रमाण हैं।

गंगा और शोण की बाढ़ों से पाटलिपुत्र के बह जाने की बात हमारी समझ में सत्य घटना है। चंद्रगुप्त के दरबार में रहनेवाले ग्रीक वकील मेगास्थनीज के अपनी 'टा इंडिका' में दिए हुए पाटलिपुत्र के वर्णन और वर्तमान समय में उसके कथनानुसार पाटलिपुत्र के प्राचीन अवशेषों के मिलने से यही अनुमान होता है कि मेगास्थनीज वर्णित पाटलिपुत्र किसी विशेष घटना के परिणामस्वरूप भूमिशायी हो गया था जो खोदने पर अब प्रकट हो रहा है। हमारी राय में चंद्रगुप्त के पाटलिपुत्र को नष्ट करनेवाली यदि कोई घटना हो सकती है तो वह कल्की के समय में होनेवाला जल-प्रलय ही है।

कल्की संबंधी जैन वर्णनों में ध्यान खींचनेवाली दूसरी बात यह है कि कल्कि नंदकारित स्तूपों को देखता है और उसके मनुष्य नंद की समृद्धि का उसके सामने बयान करते हैं। इससे हम यह मान लेने में कुछ भी अनुचित नहीं करते कि कल्कीवाली घटना नंदों के पीछे परंतु उनकी बनवाई हुई इमारतों की मौजूदगी में हो गई थी। यह घटना-काल यदि वीर निर्वाण से ३७५ वर्ष पीछे मान लिया जाय तो वह समय पुष्यमित्र का हो सकता है।

पुराणकार स्पष्ट कह रहे हैं कि कल्की पाखंडियों (अन्य दार्शनिक साधुओं) का नाश करेगा, जैन भी कहते हैं कि कल्की जबरदस्ती साधुओं के वेष छीनेगा और उनको पीड़ा देगा और बौद्ध भी यही पुकारते हैं कि पुष्यमित्र ने बौद्ध धर्म को नष्ट करने का संकल्प करके बौद्ध मठों और भिक्षुओं का नाश किया। इन तीनों मतों के भिन्न भिन्न परंतु एक ही वस्तु का प्रतिपादन करनेवाले वर्णनों को देखकर हमें यही कहना पड़ता है कि पौराणिकों का 'कल्कि अवतार' 'जैनों का कल्कीराज' और बौद्धों का 'पुष्यमित्र' ये तीनों एक ही व्यक्ति के भिन्न भिन्न नाम हैं।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जब पौराणिक और जैनग्रंथकारों का वर्णन भी पुष्यमित्र को ही लक्ष्य कर रहा है तो वह पुष्यमित्र के ही नाम से क्यों न किया गया? अथवा क्या कल्कि और पुष्यमित्र शब्द एकार्थिक हैं? उत्तर यह

है कि 'कल्कि' और 'पुष्यमित्र' शब्द एकार्थक तो नहीं हैं, पर 'कल्कि' यह नाम पुष्यमित्र का विशेषण हो सकता है। दोनों संप्रदायवाले कल्कि का वाहन घोड़ा बताते हैं। पौराणिक उसे 'देवदत्त' और 'आशुग' कहते हैं। जिनसुंदर सूरि प्रमुख जैन लेखक कल्कि के घोड़े को 'अदंत तुरग' कहते हैं।

संभव है कल्कि का यह घोड़ा 'कर्क' (श्वेत) होगा (सितः कर्को, रथ्यो वोढा रथस्य यः—अमरकोश २ कांड क्षत्रिय वर्ग ८)। और कर्क वाहन से उसका सवार 'कर्की' कहलाता होगा। कर्की को प्राकृत में 'कक्की' के रूप में लिखा होगा और पीछे से 'कक्की' का संस्कृत भाषा में 'कल्की' हो गया होगा। इस प्रकार धीरे धीरे विशेष नाम 'पुष्यमित्र' का स्थान 'कर्की' अथवा 'कल्की' ने ले लिया हो तो कुछ भी आश्चर्य नहीं है।

खारवेल के हाथीगुंफा के लेख से ज्ञात होता है कि उसने दो बार मगध के राजा पर चढ़ाई की थी। कल्की भी दो बार धार्मिक विप्लव मचाता है और साधुओं को सताता है। कहने की जरूरत नहीं है कि पुष्यमित्र जैन धर्म का परम विरोधी था और खारवेल परम पोषक, इसलिये कल्की-पुष्यमित्र के दोनों उत्पातों के समय खारवेल ने मगध पर चढ़ाई करके जैन श्रमणों का रक्षण किया था। जैन लेखकों का यह कथन कि 'दक्षिण लोक के स्वामी इंद्र ने आकर कल्की को सजा दी' पूरा पूरा खारवेल की ही ओर संकेत करता है। उस समय खारवेल जैन शासन में देव की योग्यता प्राप्त कर चुका था। हाथी-गुंफा के लेख से ज्ञात होता है कि 'महा मेघवाहन' यह खारवेल की उपाधि थी। 'महा मेघवाहन' कहो या 'महेन्द्र' बात एक ही है। लेखकों ने इंद्र को 'दक्षिण लोकाधिपति' ऐसा विशेषण दिया है, वह भी खारवेल पर ही बैठता है, क्योंकि मगध की अपेक्षा कलिंग करीब दक्षिण दिशा में होने से खारवेल दक्षिण लोक का स्वामी कहा जाता होगा। कल्की को सजा देनेवाले इंद्र को ऐरावतगामी कहा है और खारवेल भी हाथी की सवारी से ही मगध पर चढ़ाई करके आया था, ऐसा उसके लेख से ज्ञात होता है। कल्की के समय में मथुरा में बलदेव और कृष्ण के मंदिर टूटने का 'तित्थोगाली' में उल्लेख मिलता है, खारवेल ने भी मथुरा पर चढ़ाई करके उत्तरापथ के राजाओं को भयभीत किया था यह बात हाथीगुंफा के लेख से ज्ञात होती है।

इन सादृश्यों से मैं इस निर्णय पर आया हूँ कि जैनों का 'कल्की' वास्तव में पुष्यमित्र था जिसने जैन श्रमणों को तकलीफ दी थी और उसको सजा देने के लिये आनेवाला 'इंद्र' था कलिंग चक्रवर्ती 'खारवेल श्री'।

व्यवहार सूत्र के छठे उद्देशे की चूर्णि में निम्नलिखित वाक्य उपलब्ध होता है—

पुष्यमित्र की इस धर्मांधता के कारण कलिंग के सम्राट् खारवेल को दो बार मगध पर चढ़ाई करनी पड़ी थी। पहली चढ़ाई उसने मथुरा से लौटकर की। पुष्यमित्र को योग्य शिक्षा देकर वह लौट गया[३२], पर पुष्यमित्र अपनी धर्मांधता से बाज नहीं आया।

"मुड्डिंवतो आयरितो सुहज्झाणो तस्स पूसमित्तेणं झाणविग्घं कतं।"

अर्थात्—मुड्डिंवत नाम के शुभध्यानी आचार्य थे। उनके ध्यान का पुष्यमित्र ने भंग किया। यदि यह 'मुड्डिंवत' आचार्य ही तित्थोगालीवाले 'पाडिवत' आचार्य हों और 'पुष्यमित्र' को पाटलिपुत्र का राजा मान लिया जाय तो हमारी पूर्वोक्त मान्यता आगम प्रमाण से भी सिद्ध हो सकती है।

तित्थोगाली आदि ग्रंथों में 'पाडिवत' आचार्य को कल्की का समकालीन लिखा है, तब महानिशीथ में 'श्रीप्रभ' अनगार को कल्की के समय का प्रमुख स्थविर बताया है। इसमें या तो व्यवहार चूर्णिवाला 'मुड्डिंवत' 'पाडिवत' का अशुद्ध रूप है, अथवा 'पाडिवत' 'मुड्डिंवत' का अशुद्ध रूप। अथवा 'श्रीप्रभ' 'मुड्डिंवत' और 'पाडिवत' ये तीनों ही भिन्न भिन्न स्थविर होंगे जिनको कि कल्की—पुष्यमित्र—ने सताया होगा।

खारवेल ने मगध पर की पहली चढ़ाई अपने राज्य के ८ वें वर्ष में की थी और दूसरी १२ वें वर्ष में। खारवेल अपने राज्य का १३ वर्ष का वृत्तांत लिखाकर लेख को समाप्त करता है और अंत में समय का निर्देश करता हुआ कहता है 'मौर्य काल के १६४ वर्ष व्यतीत हो चुकने पर सब कार्य लिपिबद्ध किए।' (मुरियकाले वोच्छिन्ने च चोयठि अगसतकंतरिये उपादयति।)

मेरे मत मे मौर्य राजत्वकाल १६० वर्ष का था और मौर्यकाल के अनंतर ही पुष्यमित्र मगध का राजा हुआ था।

इस हिसाब से खारवेल के राज्याभिषेक का बारहवां वर्ष पुष्यमित्र के चौथे वर्ष में आयगा और खारवेल का ८वाँ वर्ष मौर्यकाल के १६०वें अथवा पुष्यमित्र के १ले वर्ष में निकलेगा।

मौर्य संवत् का १६०वाँ और १६५वाँ वर्ष वीर निर्वाण का ३७०वाँ और ३७५वाँ वर्ष था जो ई० स० पूर्व १५८वें और १५३वें वर्ष में पड़ता था। इससे साबित हुआ कि ई० स० पूर्व १५८वें वर्ष में मौर्य राज्य का अंत करके पुष्यमित्र—कल्की—मगध की राज्यगद्दी पर बैठा और उसी वर्ष तथा उसके चौथे वर्ष में उसने उपद्रव मचाया जिसको मिटाने के लिये दो बार कलिंग महाराज खारवेल मगध पर चढ़ गया था।

३२ मगध की इस पहली चढ़ाई के विषय में खारवेल के हाथीगुंफावाले लेख में इस प्रकार उल्लेख है—

चार वर्ष के बाद उसने दुबारा पाटलिपुत्र में धार्मिक विप्लव मचाया। वह साधुओं से कर वसूल करने और कर देने से इनकार करनेवाले साधुओं को कैद करके भूखों मारने लगा। जैन संघ ने किसी तरह इस उत्पात के समाचार कलिंग के जैन राजा खारवेल को पहुँचाए, तब वह पुष्यमित्र पर चढ़ आया[३१], और अपार हस्ति-

---

"अठमे च वसे महता सेना......गोरधगिरिं घातापयिता राजगहं उपपीडापयति [।] एतिनं च कंमापदान—संनादेन संवित—सेनवाहनो विपमुंचितु मधुरं अपयातो यवनराज डिमित......"

यह लेख श्री० के० पी० जायसवाल के वाचनानुसार है, और इसका तात्पर्यार्थ यह है कि 'आठवें वर्ष खारवेल बड़ी सेना से मगध पर चढ़ गया और गोरथगिरि नामक किले को तोड़कर राजगृह को घेर लिया। इस हाल को सुनकर यवनराज डिमित मथुरा को छोड़कर अपनी सेना के साथ पीछे हट गया।

परंतु मैं इस लेखांश को इस प्रकार पढ़ता हूँ—

"अठमे च वसे मोरियं राजानं धमगुतं घातापेति पुशमिनो घातापयिता राजगहं उपपीडापयति एतिना च कंमपदान—पनादेन संवीतसेनवाहिनिं विपमुंचिता मधुरं अपायातो येव बहसदि मितं...... ।"

अर्थात्—'राज्याभिषेक के आठवें वर्ष में मौर्यराजा धर्मगुप्त को मरवाकर पुष्यमित्र राजगृह में आतंक मचा रहा है यह बात सुनकर सेना से घिरी हुई मथुरा को छोड़कर (खारवेल) बृहस्पति मित्र को (शिक्षा देने के लिये राजगृह पर चढ़ आया)।'

इस फिकरे में जो मौर्य राजा का नाम धर्मगुप्त है वह मौर्यराज बृहद्रथ का नामांतर हो सकता है, और 'बृहस्पति मित्र' यह 'पुष्यमित्र' का नामांतर है। यह बात विद्वानों की मानी हुई है।

इससे यही साबित होता है कि बृहद्रथ वा धर्मगुप्त मौर्य को मारकर पुष्यमित्र ने राजगृह में मार काट की। उस समय खारवेल मथुरा को घेरे हुए था। जब उसने राजगृह का उत्पात सुना तो एकदम अपनी विशेष सेना के साथ पुष्यमित्र पर चढ़ आया और वहाँ का उपद्रव शांत किया। खारवेल ने उत्तर हिंदुस्थान के देशों पर चढ़ाई की थी, इसकी सूचना खारवेल के लेख में भी है। बारहवें वर्ष के कर्तव्यों के निरूपण में वह लिखता है कि "...हजारों से उत्तरापथ के राजाओं को डराता है" (सहसे हिं वितासयति उत्तरापथ राजानो)।

३२ खारवेल की इस दूसरी चढ़ाई के संबंध में उसके हाथीगुंफावाले लेख में इस प्रकार उल्लेख हुआ है—

सेना से कलिंगराज ने पाटलिपुत्र को घेर लिया। पुष्यमित्र विवश हो खारवेल से संधि करने को तैयार हुआ। खारवेल ने इस जैन-द्वेषी राजा को, चरणों में वंदन करवाके, बहुसंख्यक धन रत्न लेकर छोड़ दिया और आयंदा ऐसा उत्पात होने पर पदच्युत करने की धमकी देकर नंद के द्वारा लाई हुई जिन-मूर्ति को लेके वह अपने देश को लौट गया[३४]।

इसके बाद खारवेल का देहांत हो गया[३५], पुष्यमित्र निरंकुश होकर जैनों और बौद्धों पर उसी धर्मविरोधिनी नीति को बरतने लगा

"बारसमे च वसे.................. ....सहसे हि वितासयति उतरापथराजानो... "मगधानं च विपुलं भयं जनेतो हत्थी सुगंगीय पाययति [।] मागधं च राजानं बहसदिमितं पादे वंदापयति नंदराजनीतं च कालिंगजिनं संनिवेसं..
गहरतनान पडिहारे हि अंगमागधवसु च नेयाति [।]"

अर्थात्—'बारहवें वर्ष में.....हजारों से उत्तरापथ के राजाओं को भयभीत किया और मगधवासियों को भयभीत करता हुआ वह अपने हाथी को सुगांगेय (प्रासाद) तक ले गया और मगधराज बृहस्पतिमित्र को पैरों में गिराया, तथा राजा नंद द्वारा ले जाई गई कलिंग की जिन मूर्ति को..... और गृहरत्नों को लेकर प्रतिहारों द्वारा अंग मगध की संपत्ति ले आया।'

३४ पुष्यमित्र ने मगध पर ३५—३६ वर्ष तक राज्य किया, ऐसे जैन और पौराणिक उल्लेख हैं। यदि खारवेल की पहली चढ़ाई पुष्यमित्र के पहले वर्ष में मान ली जाय तो यह उसकी दूसरी चढ़ाई उसके ४-५ वें वर्ष में हुई यह मानना जरूरी है। और इस हिसाब से इस चढ़ाई के बाद पुष्यमित्र ने कम से कम ३० वर्ष राज्य किया यह मानना भी अनिवार्य है। इसलिये हमने पुष्यमित्र को जीता छोड़कर खारवेल के जाने का इशारा किया है। खारवेल के लेख से भी यही ध्वनित होता है कि मगध के राजा को अपने चरणों में गिराकर जिन मूर्ति के उपरांत धनरत्न लेकर खारवेल अपने देश को चला गया था।

तित्थोगाली पइन्नय आदि ग्रंथों में दूसरी चढ़ाई में महेंद्र—खारवेल—ने कल्की—पुष्यमित्र—को मारकर उसके पुत्र 'दत्त' अथवा 'धर्मदत्त' को पाटलिपुत्र का राज्य दिया, ऐसा लेख है।

३५ खारवेल के राज्यकाल के १३ वर्षों का संक्षिप्त वर्णन उसके लिखाए हुए हाथीगुंफा के लेख में दिया है, पर इसके आगे खारवेल के अस्तित्व का

जो उसने शुरू में अख्तियार की थी। परिणाम यह हुआ कि कम से कम चार सौ वर्ष से महावीर के धर्मप्रचार की क्रीड़ास्थली बनी हुई मगध-भूमि से निर्ग्रंथ श्रमणों के पैर उखड़ने लगे। हजारों जैन साधु मगध देश की अति परिचित भूमि का परित्याग करके चारों ओर विचरने लगे। यों तो मौर्य संप्रति के समय से ही मध्य और पश्चिम हिंदुस्थान में जैन श्रमणों का जमाव होने लगा था[३६], पर पुष्यमित्र की इस धार्मिक क्रांति ने मगध के श्रमणगण को भी इधर खदेड़ दिया। परिणामतः मगध के राजवंश से जैनों का संबंध कम हो गया, परंतु मौर्य वंश के अंत और शुंग पुष्यमित्र के राज्यारंभ के काल को जैन आचार्य भूले नहीं थे। आज कल करते इस बात को ३५ वर्ष हो चुके थे। मगध पर अभी तक पुष्यमित्र का ही अमल था और संभवतः उसकी जिंदगी का यह अंतिम वर्ष था[३७]। ठीक इसी अर्से में लाट देश की राजधानी भरुकच्छ (भरोच) में बलमित्र का राज्याभिषेक हुआ। जैनाचार्यों ने पुष्यमित्र के ३५ वर्षों से ही अपनी गणना-शृंखला का चौथा आँकड़ा पूरा कर लिया और आगे वे जैन राजा बलमित्र के राज्यकाल की गणना करने लगे।

कुछ भी पता न होने से विद्वानों का अनुमान है कि उसके बाद वह जीवित नहीं रहा।

३६ संप्रति के समय के पहले से ही आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती अनेक बार मालवे की तरफ विचरे थे और संप्रति के समय में तो उनके शिष्य सौराष्ट्र (काठियावाड़) तक विचरने लगे थे। आर्य सुहस्ती के शिष्य ऋषि गुप्त से निकले हुए 'मानवगण' की ४ शाखाओं में एक शाखा का नाम 'सोरट्ठिया' अर्थात् 'सौराष्ट्रिका' था जो सोरठ अथवा आजकल के काठियावाड़ से निकली थी। इससे यह बात तो निश्चित है कि संप्रति मौर्य के राजत्वकाल में जैन श्रमणों का विहार सौराष्ट्र तक होता था, इतना ही नहीं बल्कि वहाँ श्रमणों का अच्छा प्रभाव हो गया था।

३७ पुराणों में पुष्यमित्र का राजत्वकाल ३६ वर्ष का लिखा है और जैनाचार्यों ने इसके ३५ वर्ष लिखे हैं। मालूम होता है, जैनाचार्यों ने बृहद्रथ का अंतिम वर्ष और पुष्यमित्र का आदि वर्ष एक मान लिया है और पुराणकारों ने उन्हें जुदा जुदा मानके पुष्यमित्र के ३६ वर्ष मान लिए होंगे।

बलमित्र-भानुमित्र के अमल के ४७ वें वर्ष के आसपास उज्जयिनी में एक अनिष्ट घटना हो गई। वहाँ के गर्दभिल्ल वंशीय राजा दर्पण[३८] ने कालकसूरि नाम के जैनाचार्य की बहन सरस्वती साध्वी को जबरन् पड़दे में डाल दिया। आचार्य कालक ने गर्दभिल्ल को बहुत समझाया, उज्जयिनी के जैन संघ ने भी साध्वी को छोड़ देने के लिये विविध प्रार्थनाएँ कीं, पर राजा ने एक भी न सुनी।

कालकसूरि ने निरुपाय हो राजसत्ता की मदद लेनी चाही पर उज्जयिनी के गर्दभिल्ल दर्पण से लोहा लेनेवाला कोई भी राज्य उस समय नहीं था। भरोंच के बलमित्र-भानुमित्र कालक और सरस्वती के भानजे थे पर वे भी दर्पण के सामने उँगली ऊँची करने का साहस नहीं कर सके। अंत में कालक ने परदेश जाकर किसी राजसत्ता की सहायता लेने की ठानी और वे पारिसकुल जा पहुँचे।

३८ जैन लेखकों का कथन है कि जिस राजा ने कालकाचार्य की बहिन सरस्वती का अपहरण किया था उसका नाम 'दप्पण' (दर्पण) था और किसी योगी की तरफ से गर्दभी-विद्या प्राप्त करने से वह 'गर्दभिल्ल' कहलाता था।

बृहत्कल्प भाष्य और चूर्णि में भी राजा गर्दभ संबंधी कुछ बातें हैं, जिनका सार यह है कि 'उज्जयिनी नगरी में अनिलपुत्र यव नामक राजा और उसका पुत्र गर्दभ युवराज था। गर्दभ के अडोलिया नाम की बहिन थी। यौवनप्राप्त अडोलिया का रूप सौंदर्य देखकर युवराज गर्दभ उस पर मोहित हो गया। उसके मंत्री दीर्घपृष्ठ को यह बात मालूम हुई और उसने अडोलिया को सातवें भूमिघर में रख दिया और गर्दभ उसके पास जाने आने लगा।'

चूर्णि का मूल लेख इस प्रकार है—

"उज्जेणी णगरी, तत्थ अणिलसुतो जवो नाम राया, तस्स पुत्तो गद्दभो णाम जुवराया, तस्स रण्णो धूआ गद्दभस्स भइणी अडोलिया णाम, सा य रूववती तस्स य जुवरण्णो दीहपट्ठो णाम सचिवो (अमात्य इत्यर्थः) ताहे सो जुवराया तं अडोलियं भइणिं पासित्ता अज्झोववण्णो दुब्बली भवइ। अमच्चेण पुच्छितो णिब्बंधे सिट्ठं अमच्चेण भण्णइ सागारियं भविस्सति तो सत्तभूमीघरे छुभउ तत्थ भुंजाहि ताए समं मा ए लोगो जाणिस्सइ सा कहिं पिणट्ठा एवं होउत्ति कतं।"

संभव है, साध्वी सरस्वती का अपहारक गर्दभिल्ल और अडोलिया का कामी यह गर्दभ दोनों एक ही हों।

पारिसकुल में जाकर कालक ने एक शकवंश्य शाह (मंडलिक राजा) के दरबार में जाना शुरू किया। निमित्त ज्ञान के बल से थोड़े ही दिनों में कालक ने शाह के मन को अपने वश में किया और मौका पाकर वह उसे और दूसरे अनेक शाहों को समुद्र-मार्ग से हिन्दुस्थान में ले आया। रास्ते में लाट देश के राजा बलमित्र-भानुमित्र आदि भी शाहों के साथ हो गए[३९]।

कोई ९६ शक मंडलिक और लाट के राजा बलमित्र की संयुक्त सेना ने उज्जयिनी को जा घेरा। घमासान लड़ाई के बाद शक शाहों ने उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया और गर्दभिल्ल को कैद करके सरस्वती साध्वी को छुड़ाया। कालक सूरि की सलाह के अनुसार गर्दभिल्ल को पदच्युत करके जीवित छोड़ दिया गया और उज्जयिनी के राज्यासन पर उस शाह को बिठलाया गया जिसके यहाँ कालक ठहरे थे[४०]।

---

३९ निशीथ चूर्णि आदि प्राचीन ग्रंथकारों ने इनको वंश से 'सग' और उपाधि से 'साहि' लिखा है। इनका मुखिया 'साहानुसाही' कहलाता था। संस्कृत ग्रंथकार आचार्य हेमचंद्र सूरि आदि ने 'साहि' का अनुवाद 'शाखि' किया है। ये साहि अथवा शक सीथियन जाति के लोग थे और इनका निवासस्थान ईरान अथवा बलख था। आचार्य्य कालक ९६ साहियों को लेकर काठियावाड़ में उतरे और वर्षाऋतु वहाँ बिता कर लाट के राजा बलमित्र-भानुमित्र को भी साथ लेकर उज्जयिनी पर चढ़ गए थे। देखो निम्न-लिखित कथावली का उल्लेख—

"ताहे जे गद्दहिल्लेणावमाणिया लाडरायाणो अण्णेय ते मिलिउं सव्वेहिं पि रोहिया उज्जेणी।"

—कथावली २, २८९।

४० "सूरीअप्पासि ठिओ, आसीसोऽवंतिसामिओ सेसा।
तस्सेवगा य जाया, तओ पउत्तो अ सगवंसो ॥ ८० ॥"

—कालकाचार्य्य कथा।

इसी प्रकार का उल्लेख निशीथ के १०वें उद्देश की चूर्णि में भी है—

"जं कालगज्जो समल्लीणो सो तत्थ राया अधिवो।
राया ठवितो, ताहे सगवंसो उप्पण्णो।।"

—निशीथ चू० १० उ० पत्र २३६।

यद्यपि निशीथ चूर्णि के इस उल्लेख का पूर्व संबंध यह है कि 'उन

उक्त घटना बलमित्र के ४८ वें वर्ष के अंत में घटी। यह समय वीर निर्वाण का ४५३ वाँ वर्ष था।

४ वर्ष तक शकों का अधिकार रहने के बाद बलमित्र-भानुमित्र ने उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया[41] और ८ वर्ष तक वहाँ राज्य

साहियों ने काठियावाड़ को ९६ भागों में बाँट लिया और कालकाचार्य जिसके पास ठहरे थे उस साह को वहाँ का 'राजाधिराज' बनाया।' पर वस्तुतः इन दोनों उल्लेखों में कोई विरोध नहीं है, जो सौराष्ट्र का राजाधिराज हुआ होगा वह अवंति का स्वामी तो हुआ ही होगा, क्योंकि चढ़ाई का मुख्य उद्देश्य तो अवंति को सर करके साध्वी को छोड़ाने का ही था।

४१ मेरुतुंग की विचारश्रेणि में दी हुई गाथा में "सगस्स चऊ" अर्थात् उज्जयिनी में शक का ४ वर्ष तक राज्य रहा। इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि उज्जयिनी का कब्जा शकों के हाथ में ४ वर्ष तक ही रहा था। कालकाचार्यकथा की—

"बलमित्त भाणुमित्ता, आसि अवंतीइ रायजुवराया।
नियभाणिज्जत्ति तया, तत्थ गओ कालगायरिओ ॥ ८४ ॥"

इस गाथा में और निशीथ चूर्णि के—

"कालगायरिओ विहरंतो उज्जेणिं गतो। तत्थ वासावासं ठितो। तत्थ णगरीए बलमित्तो राया, तस्स कनिट्ठो भाया भाणुमित्तो जुवराया + +"

—इस उल्लेख में बलमित्र को उज्जयिनी का राजा लिखा है। इससे यह निश्चित होता है कि जिस समय सरस्वती साध्वी के छुटकारे के लिये कालकाचार्य शकों की सेना उज्जयिनी पर ले आए उस समय उज्जयिनी को सर करने के बाद उन्होंने वहाँ के तख्त पर शक मंडलिक को बिठाया था, पर बाद में उसकी शक्ति कम हो गई थी। शक मंडलिक और उस जाति के अन्य अधिकारी पुरुषों ने अवंति के तख्तनशीन शक राजा का पक्ष छोड़ दिया था। देखो व्यवहार चूर्णि का निम्नलिखित पाठ—

"उज्जेणीए गाहा। यदा अज्ज कालएण सगा आणीता सो सगराया उज्जेणीए राय हाणीए तस्संगणिज्जगा 'अम्हं जाती ए सरिसो' त्ति काउं गव्वेणं तं रायं ण सुट्ठु सेवंति। राया तेसिं वित्तिं ण देति। अवित्तीया तेण्णं आढत्तं काउं ते णाउं बहुजणेण विण्णविएण ते णिव्विसता कता, ते अण्णं रायं ओलग्गणट्ठाए उवगता।"

—व्यवहार चूर्णि उद्देशक १० पत्र १७६।

उज्जयिनी के शक राजा की इस कमजोर हालत में करीब चार वर्ष के बाद भरोच के बलमित्र-भानुमित्र ने उज्जयिनी पर अपना अधिकार जमा लिया और उसे अपनी राजधानी बनाके वे वहाँ रहने लगे। बलमित्र-भानुमित्र कहीं भरोच के और कहीं उज्जयिनी के राजा कहे गए हैं, उसका कारण यही है कि वे पहले भरोच के राजा थे पर शक को हराकर उज्जयिनी को प्राप्त करने के बाद वे उज्जयिनी या अवन्ति के भी राजा बने थे। इस वस्तु-स्थिति को न समझकर मेरुतुंग ने अपनी विचारश्रेणि में लिखा है कि—

"बलमित्रभानुमित्रौ राजानौ (६०) वर्षाणि राज्यमकार्ष्टाम्। यौ तु कल्पचूर्णौ चतुर्थीपर्वकृत्कालकाचार्यनिर्वासकौ उज्जयिन्यां बलमित्र-भानुमित्रौ तावन्यावेव।"

आचार्य्य के उपर्युक्त लेख का सार यह है कि ६० वर्ष राज्य करनेवाले बलमित्र-भानुमित्र से चतुर्थी के दिन सांवत्सरिक पर्व करनेवाले कालकाचार्य्य को निर्वासन करनेवाले उज्जयिनी के बलमित्र-भानुमित्र भिन्न थे।

मेरुतुंग सूरि के इस उल्लेख का कारण मेरे विचार से निम्नलिखित गाथा हो सकती है—

> "तेणउअनवसएहिं, समइक्कंतेहिं वद्धमाणाओ।
> पज्जोसवणचउत्थी, कालगसूरीहिंतो ठविआ॥"

इस गाथा में वीर निर्वाण से ९९३ में कालकाचार्य्य से चतुर्थी का पर्युषण पर्व स्थापित होने का कथन है। मेरुतुंग की गणना में ६० वर्ष राज्य करने-वाले बलमित्र-भानुमित्र का समय निर्वाण से ३५४ से ४१३ तक था इसलिये ये राजा ९९३ में चतुर्थी में पर्युषणा करनेवाले कालकाचार्य्य के समकालीन नहीं हो सकते थे। इस असंगति के चक्र में पड़के आचार्य्य को कहना पड़ा कि 'उज्जयिनी के बलमित्र-भानुमित्र अन्य थे।'

अब हमें इस गाथा की मीमांसा करनी चाहिए कि यह गाथा है कहाँ की, और इसका कथन विश्वासयोग्य है भी या नहीं।

आचार्य्य जिनप्रभ 'सन्देहविषौषधि' नामक अपनी कल्पसूत्र टीका में कहते हैं कि यह गाथा 'तित्थोगाली पइन्नय' की है। परंतु वर्तमान 'तित्थोगाली पइन्नय' में यह गाथा उपलब्ध नहीं होती। हां, देवेंद्र सूरि शिष्य धर्मघोष सूरि कृत कालसप्तति में उक्त गाथा दृष्टिगत अवश्य होती है और वहाँ इसका गाथांक ४१ दिया हुआ है।

इसी गाथा के संबंध में टीका करते हुए उपाध्याय धर्मसागरजी 'कल्प-किरणावली' में लिखते हैं कि 'तीर्थोद्गार में यह गाथा देखने में नहीं आती और 'कालसप्ततिका' में यद्यपि यह देखी जाती है, पर उसमें कई एक क्षेपक

गाथाएँ भी मौजूद हैं, और अवचूर्णिकार ने भी इसकी व्याख्या नहीं की, इससे मूल ग्रंथकार की यह गाथा हो ऐसा संभव नहीं है।' धर्मसागरजी का यह अभिप्राय उन्हीं के शब्दों में नीचे दिया जाता है—

"इति गाथाचतुष्टयं तीर्थोद्गारायुक्तसम्मतितया प्रदर्शितं तीर्थोद्गारे च न दृश्यते इत्यपि विचारणीयम्। यद्यपि "तेणउअनवसएहिं" इति गाथा 'काल-सप्ततिकायां' दृश्यते परं तत्र प्रक्षेपगाथानां विद्यमानत्वेन तदवचूर्णावव्याख्यात-त्वेन चेयं न सूत्रकृत्कर्तृकेति संभाव्यते।"

—कल्पकिरणावली १३१।

आचार्य्य मेरुतुंग ने भी अपनी विचारश्रेणि में 'तदुक्तम्' कहकर ६६३ में चतुर्थी पर्युषणा होने के विषय में इस गाथा का प्रमाण की भाँति अवतरण दिया है।

कालकाचार्य्य कथा में इस गाथा का अवतरण देते हुए लिखा है—

"उक्तं च प्रथमानुयोगसारोद्धारे द्वितीयोदये—तेणउअ०"

अर्थात् 'प्रथमानुयोग के दूसरे उदय में 'तेणउ अनवसएहिं" यह गाथा कही है', परंतु प्रथमानुयोगसारोद्धार का इस समय कहीं भी अस्तित्व न होने से यह कहना कठिन है कि प्रथमानुयोगसारोद्धार की ही यह गाथा है या दूसरे ग्रंथ की। क्या आश्चर्य्य है कि जिनप्रभ ने जैसे इसको तित्थोगाली के नाम पर चढ़ाया वैसे ही कालकाचार्य्य कथालेखक ने इस पर प्रथमानुयोग-सारोद्धार की मुहर लगा दी हो? कुछ भी हो, इन भिन्न भिन्न उल्लेखों से इतना ही सिद्ध होता है कि विक्रम की तेरहवीं सदी के पहले की उक्त गाथा अवश्य है, पर यह किस मौलिक ग्रंथ की है इसका कोई निश्चय नहीं होता।

अब हमें यह देखना है कि 'निर्वाण से ६६३ में चतुर्थी पर्युषणा स्थापित हुई' यह गाथोक्त बात वास्तव में सत्य है या नहीं।

हम देखते हैं कि निशीथ चूर्णि आदि सब प्राचीन चूर्णियों और कथाओं में एक मत से यह बात मानी गई है कि 'प्रतिष्ठानपुर के राजा सातवाहन के अनुरोध से कालकाचार्य्य ने चतुर्थी के दिन पर्युषणा की।' और अब हमने यह मान लिया कि सातवाहन के समय में ही हमारा पर्युषणा पर्व चतुर्थी को हुआ तो पीछे यह मानना असंभव है कि वह समय निर्वाण का ६६३ वाँ वर्ष होगा, क्योंकि निर्वाण का ६६३वाँ वर्ष विक्रम का ५२३वाँ और ई० स० का ४६६वाँ वर्ष होगा जो सातवाहन के समय के साथ बिल्कुल नहीं मिल सकता। इतिहास से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि ई० स० की तीसरी शताब्दी में ही आंध्रराज्य का अंत हो चुका था, इसलिये पर्युषणा चतुर्थी का जो गाथोक्त समय है वह बिलकुल कल्पित है। मेरा तो अनुमान है कि अब से

किया; भरोच में ५२ वर्ष और उज्जैन में ८ वर्ष, सब मिलकर ६० वर्ष तक बलमित्र-भानुमित्र ने राज्य किया। यही जैनों का बलमित्र पिछले समय में 'विक्रमादित्य' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसकी सत्ता के ६० वर्षों से ५वाँ आँकड़ा पूरा हुआ।

बलमित्र-भानुमित्र के बाद उज्जयिनी के राज्यसिंहासन पर नभःसेन बैठा[४२]।

नभःसेन के पाँचवें वर्ष में शक लोगों ने फिर मालवा पर हल्ला किया जिसका मालव प्रजा ने बहादुरी के साथ सामना किया और विजय पाई। इस शानदार जीत की यादगार में मालव प्रजा ने 'मालव संवत्' नामक एक संवत्सर भी चलाया जो पीछे से 'विक्रम संवत्' के नाम से प्रसिद्ध हुआ[४३]।

१२वीं सदी में चतुर्थी से फिर पंचमी में पर्युषणा करने की मान्यता होने लगी थी उसी समय में चतुर्थी पर्युषणा को अर्वाचीन ठहराने के इरादे से किसी ने उक्त गाथा रच डाली है और गतानुगतिकतया पिछले समय में ग्रंथकारों ने अपने ग्रंथों में उसे उद्धृत कर लिया है। चतुर्थी पर्युषणा का समय हमारी मान्यतानुसार निर्वाण से ४५३ और ४६५ के बीच में है, क्योंकि ४५३ के बाद बलमित्र-भानुमित्र का उज्जयिनी में राज्य हुआ और ४६५ के अंत में उसका अंत, इसलिये इस समय के बीच में किसी समय बलमित्र के कारण से कालकाचार्य उज्जैन से निकले और प्रतिष्ठान में जाकर सातवाहन के कहने से पंचमी से चतुर्थी में पर्युषणा की। सातवाहन का समय भी इस घटना के साथ ठीक मिल जाता है।

४२ विचारश्रेणि आदि में जो संशोधित गाथाएँ हैं उनमें इसका नाम 'नहवाहन' लिखा है जो गलत है। तित्थोगाली में बलमित्र-भानुमित्र के बाद उज्जयिनी का राजा नभःसेन लिखा है। नहवाहन, जिसके नामांतर 'नरवाहन' और 'दधिवाहन' भी मिलते हैं, भरोच का राजा था। सिक्कों पर इसका नाम 'नहपान' भी मिलता है। प्रतिष्ठान के सातवाहन ने इसके ऊपर अनेक बार चढ़ाइयाँ की थीं। संभव है, बलमित्र-भानुमित्र के उज्जैन में चले जाने के बाद यह नहवाहन भरोच का मंडलिक राजा रहा होगा।

४३ 'मालव संवत्' अथवा 'मालवगण संवत्' का नामांतर 'कृतसंवत्' भी है। यह संवत् किस कारण से प्रचलित हुआ इसका स्पष्ट खुलासा अभी तक देखने में नहीं आया परंतु हमारे मत से इसका कारण विदेशियों को जीत-

कर मालवगण की स्वतंत्रता-प्राप्ति के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता। इस संवत् संबंधी निम्नलिखित उल्लेख विद्वानों ने ढूँढ निकाले हैं—

(१) मंदसौर से मिले हुए नरवर्मन् के समय के लेख में—

"श्रीर्म्मालवगणाम्नाते, प्रशस्ते कृतसंज्ञिते।
एकषष्ट्यधिके प्राप्ते, समाशतचतुष्टये [।।]
प्रावृक्का(ट्का)ले शुभे प्राप्ते।"

(२) राजपूताना म्यूजिअम (अजमेर) में रखे हुए नगरी (मध्यमिका, उदयपुर राज्य में) के शिलालेख में—

"कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वेकाशीत्युत्तरेष्वस्यां मालवपूर्वायां [४००] ८०१ कार्तिकशुक्लपंचम्याम्।"

(३) मंदसौर से मिले हुए कुमारगुप्त (प्रथम) के समय के शिलालेख में—

"मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये।
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृ(मृ)तौ सेव्यघनस्त(स्व)ने॥
सहस्यमासशुक्लस्य प्रशस्तेह्नि त्रयोदशे॥"

(४) मंदसौर से मिले हुए यशोधर्मन् (विष्णुवर्द्धन) के समय के शिलालेख में—

"पंचसु शतेषु शरदां यातेष्वेकान्नवतिसहितेषु
मालवगणस्थितिवशात्कालज्ञानाय लिखितेषु।"

(५) कोटा के पास कणस्वा के शिवमंदिर में लगे हुए शिलालेख में—

"संवत्सरशतैर्यातैः सपञ्चनवत्यर्गलैः [।]
सप्तभिर्म्मालवेशानां।"

—भारतीय प्रा० लिपिमाला १६६।

(६) "कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वष्टाविंशेषु ४०० २०८
फाल्गुण (न) बहुलस्या पञ्चदश्यामेतस्यां पूर्वायां।"

—फ्ली; गु० ई०, पृ० २५३।

(७) "यातेषु चतुर्षु कि(कृ)तेषु शतेषु सौम्ये (म्यै)
ष्वा (ष्टा) शीतसोत्तरपदेष्विह वत्स [रेषु]
शुक्ले त्रयोदशदिने भुवि कार्तिकस्य
मासस्य सर्वजनचित्तसुखावहस्य।"

—फ्ली; गु० ई०, पृ० ७४।

इन उल्लेखों में कहीं भी विक्रम के नाम का निर्देश नहीं है। धौलपुर से मिले हुए चाहमान (चौहान) चंड महासेन के विक्रम संवत् ८९८ (ई०

इस तरह वीर निर्वाणाब्द ४५३ के अंत में उज्जयिनी में शक राज्य हुआ। निर्वाणाब्द ४५७ के अंत में बलमित्र (प्रसिद्ध नाम विक्रमादित्य) ने उज्जयिनी से शकों को निकालकर अपना अधिकार जमाया और इसके बाद १३वें वर्ष के अंत में अर्थात् वीर निर्वाणाब्द ४७० के अंत में मालव संवत् प्रचलित हुआ। यही बात निम्नलिखित प्राचीन गाथा से प्रतिध्वनित होती है।

"विक्कमरज्जाणंतर, तेरसवासेसु वच्छरपवित्तो।
सुन्नमुणिवेयजुत्तो, विक्कमकालाओ जिणकालो॥"

नभःसेन के राज्य के ४० वर्षों से गणना-शृंखला का छठा आँकड़ा पूरा हुआ और इसके साथ ही वीर निर्वाणाब्द ५०५ पूरे हुए।

इसके बाद उज्जयिनी में पूरी एक शताब्दी तक गर्दभिल्लीय राज्यवंश की सत्ता रही। जैनाचार्यों की गणना-शृंखला का यह ७वाँ और अंतिम आँकड़ा था। इस शताब्दि की पूर्णता के साथ निर्वाण संवत् ६०५ तक आ पहुँचा।

इसी अर्से में मालवा पर फिर शकों का आक्रमण हुआ। डेढ़ सौ वर्ष से भी अधिक समय तक भारतवर्ष की सभ्यता और शिक्षा का अनुभव करने के बाद का शकों का यह आक्रमण मालवी सेना से नहीं रोका जा सका। परिणामस्वरूप गर्दभिल्ल साम्राज्य का अंत करके शकों ने मालवा पर पूर्ण अधिकार जमा लिया और इस महत्त्वपूर्ण विजय के उपलक्ष्य में उन्होंने भी एक संवत् प्रचलित किया जो आज तक शक संवत् अथवा शालिवाहन शाका के नाम से प्रचलित है[४४]।

स० ८४१) के शिलालेख में पहले पहल इस संवत् के साथ विक्रम का नाम जुड़ा हुआ मिलता है। वह लेख-खंड इस प्रकार है—

"वसु नव [अ] ष्टौ वर्षागतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य।
वैशाखस्य सिताया (यां) रविवारयुतद्वितीयायाम्॥"

—भारतीय प्राचीन लिपिमाला।

४४ इस दूसरी बार के आक्रमण के समय शकों का मुखिया कौन था, इस बात का यद्यपि पूर्ण निश्चय नहीं हुआ तो भी संभवतः क्षत्रप चष्टन इस लड़ाई का सूत्रधार हो सकता है। चष्टन के शक संवत् ४६—७२ तक के

युगप्रधानत्व काल-गणना-पद्धति

युगप्रधानत्व काल-गणना से तात्पर्य उन संघस्थविरों के काल-निरूपण से है, जो अपने समय में सर्वश्रेष्ठ और जैन श्रमण संघ के प्रमुख हो गए हैं।

भगवान् महावीर के निर्वाण से शक संवत्सर पर्यंत ६०५ वर्ष में क्रमशः संघस्थविर-पद-प्राप्त २० महापुरुष हुए हैं जिनके गार्हस्थ्य, श्रामान्य श्रमणत्व और युगप्रधानत्व पर्याय काल का निरूपण "स्थविरावली" अथवा "युगप्रधानपट्टावली" में किया है। यहाँ पर हम स्थविरावली की उन गाथाओं को अवतरित करेंगे, जिनमें क्रमशः युगप्रधानों के नाम और उनके युगप्रधानत्व पर्याय का समय-निरूपण है।

वे गाथाएँ इस प्रकार हैं—

"सिरि वीराउ सुहम्मो, वीसं चउचत्तवासजंबुस्स।
पभवेगारस सिज्जं-भवस्स तेवीस वासाणि ॥
पन्नास जसोभद्दे, संभूइस्सट्ठ भद्दबाहुस्स।
चउद्दस य थूलभद्दे, पणयालेवं दुपन्नरस ॥
अज्जमहागिरि तीसं, अज्जसुहत्थीण वरिस छायाला।
गुणसुंदर चउआला, एवं तिसया पणत्तीसा ॥
तत्तो इगचालीसं, निगोय वक्खाय कालिगायरिओ।
अट्ठत्तीसं खंदिल (संडिल), एवं चउसय चउद्दस य ॥
रेवइमित्ते छत्तीस, अज्जमंगू अ वीस एवं तु।
चउसय सत्तरि चउसय, तिपन्ने कालगो जाओ ॥
चउवीस अज्ज धम्मे, ए गुणचालीस भद्दगुत्ते अ।
सिरिगुत्ति पनर वइरे, छत्तीसं एव पणचुलसी ॥

सिक्कों से ज्ञात होता है कि उसने गुजरात काठियावाड़ के उपरांत मालवा पर भी अपना अधिकार जमाया था और उज्जयिनी को अपनी राजधानी बनाया था, जो अंत तक इसके वंशजों की भी राजधानी रही। विशेष संभव है कि चष्टन के इस विजय के उपलक्ष्य में ही 'शक संवत्' चलाया गया हो।

तेरस वासा सिरि अज्ज-रक्खिए वीस पूसमित्तस्स।
इत्थय पणहिअ छसरासु सागसंवच्छरुप्पत्तो ॥"

अर्थात् 'श्रीमहावीर के निर्वाण के बाद सुधर्मा २०, जंबू ४४, प्रभव ११, शय्यंभव २३, यशोभद्र ५०, संभूतिविजय ८, भद्रबाहु १४ और स्थूलभद्र ४५ वर्ष तक क्रमशः युगप्रधान पद पर रहे, यहाँ तक वीर निर्वाण को २१५ वर्ष हुए[४५]।'

---

४५ निर्वाण से २१५ वर्ष के अंत में स्थूलभद्र का युगप्रधानत्व पर्याय काल पूरा होता है और इसी समय में पट्टावलिकार उनका स्वर्ग-वास भी बताते हैं, परंतु मेरी समझ में युगप्रधानत्व की समाप्ति के साथ ही उनके आयुष्य की समाप्ति मान लेना ठीक नहीं है। जहाँ तक मैं समझता हूँ, आर्य्य स्थूलभद्र ने निर्वाण संवत् २१५ में ८९ वर्ष की वृद्धावस्था में युगप्रधानत्व पद अपने मुख्य शिष्य आर्य्य महागिरि को सुपुर्द कर दिया होगा और इसके बाद १० वर्ष तक जीकर २२५ में ९९ वर्ष की अवस्था में वे स्वर्गवासी हुए होंगे। मेरे इस अनुमान के कारण निम्नलिखित हैं—

(१) यदि २१५ वर्ष में स्थूलभद्र का स्वर्गवास माना जायगा तो उनकी दीक्षा १४६ में माननी पड़ेगी, क्योंकि उन्होंने ३० वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली थी और ९९ वर्ष तक वे जीए थे। इस प्रकार यदि १४६ में स्थूलभद्र दीक्षित हो गए होते तो करीब १० वर्ष तक ये संभूतविजय के पास अध्ययन कर सकते थे, परंतु पठन पाठन के संबंध में सर्वत्र भद्रबाहु-स्थूलभद्र का ही गुरु शिष्यभाव देखा जाता है। इससे मालूम होता है कि स्थूलभद्र की दीक्षा के बाद आर्य संभूतविजय अधिक समय नहीं जीए होंगे। १५६ वें वर्ष के अंत में आर्य संभूतविजयजी का स्वर्गवास हुआ था, और संभवतः इसी वर्ष में स्थूलभद्र की दीक्षा भी हुई होगी।

(२) आर्य सुहस्ती स्थूलभद्र के हस्त-दीक्षित शिष्य थे। उन्होंने ३० वर्ष की उमर में स्थूलभद्र के पास दीक्षा ली थी और १०० वर्ष की अवस्था में निर्वाण से २९१ वें वर्ष के अंत में उनका स्वर्ग-वास हुआ था। इससे यह सिद्ध होता है कि आर्य सुहस्ती की दीक्षा निर्वाण से २२१ वें वर्ष में हुई। सोचने की बात यह है कि यदि २१५ में ही स्थूलभद्र स्वर्गवासी हो गए होते तो २२१ में उनके पास आर्य्य सुहस्ती की दीक्षा कैसे हो सकती थी? इससे मानना होगा कि स्थूलभद्र का स्वर्गवास २१५ में नहीं पर २२१ के बाद हुआ था। स्थूलभद्र ने आर्य्य सुहस्ती को जुदा गण दिया था, ऐसा निशीथ चूर्णि आदि में लेख है। इससे ज्ञात होता है कि स्थूलभद्र के स्वर्गवास के समय

में सुहस्ती का कम से कम ४-५ वर्ष का तो दीक्षा पर्याय होगा ही, अन्यथा स्थूलभद्र उनको पृथक् गण प्रदान नहीं करते, इन सब बातों के पर्यालोचन से यही सिद्ध होता है कि स्थूलभद्र का २१५ में नहीं पर २२५ में स्वर्गवास हुआ था।

इसी प्रकार आर्य्य महागिरि का युगप्रधानत्व-काल निर्वाण संवत् २४५ में पूरा होता है और कतिपय पट्टावली-लेखकों ने इसी अर्से में आर्य्य महागिरिजी का स्वर्ग-वास होना भी लिखा है पर मेरे विचारानुसार युगप्रधानत्व काल के बाद भी वे अधिक समय तक जीवित रहे।

आर्य महागिरिजी के संबंध में यह बात सुप्रसिद्ध है कि उन्होंने पिछले समय में अपना साधु समुदाय आर्य सुहस्ती को सुपुर्द कर दिया था और आप गच्छ की निश्रा में रहते हुए भी जिनकल्प का अनुकरण करते थे। इससे यह अवश्य मानना पड़ेगा कि उन्होंने गण समर्पण के साथ ही अपना युगप्रधान-पद भी आर्य सुहस्ती को समर्पित किया होगा। क्योंकि ऐसा किए बगैर वे किसी तरह जिनकल्प की तुलना कर ही नहीं सकते थे।

आवश्यक चूर्णि आदि ग्रंथों में जो आर्य महागिरिजी के जीवन के प्रसंग उल्लिखित हैं उनसे भी आर्य महागिरि के पिछले जीवन की केवल निःसंगता ही टपकती है। इससे यह बात अवश्य मानने योग्य है कि आर्य महागिरिजी ने पिछले समय में गच्छ और संघ के कार्यों से अपना संबंध छोड़ दिया था, और गच्छ-संघ के कामों का प्रपंच छोड़कर वे किसी हालत में संघस्थविर के पद पर नहीं रह सकते थे। इससे सिद्ध होता है कि आर्य महागिरि ने पिछले समय में युगप्रधान पद छोड़ दिया होगा।

संप्रति के जीवद्रमक को कोशंबाहार में आर्य्य सुहस्ती ने दीक्षा दी उस समय आर्य्य महागिरिजी जीवित थे, और उस समय मगध की राज-गद्दी पर मौर्य्य अशोक था, क्योंकि द्रमक साधु उसी दिन मरकर राज-कुँवर कुनाल का पुत्र संप्रति हुआ माना गया है। अशोक का राजत्व काल निर्वाण से २०९ से शुरू होकर २४५ में पूरा हुआ था, इससे यह बात अवश्य विचारणीय है कि आर्य्य महागिरि यदि २४५ में ही स्वर्गवासी हो गए होते तो अशोक के समय में द्रमक के दीक्षा प्रसंग पर उनकी विद्यमानता के उल्लेख नहीं मिलते। इससे यह तो प्रायः निश्चित है कि आर्य्य महागिरिजी का २४५ में नहीं पर २५१ के बाद स्वर्गवास हुआ था, पर २५१ के बाद वे कब स्वर्गवासी हुए इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है।

मेरे पास के एक युगप्रधान यन्त्र में स्थूलभद्र के अनंतर के युगप्रधान का पर्याय काल ४६ वर्ष का लिखा हुआ है। इससे यदि यह अनुमान कर लिया

आगे आर्य महागिरि ३०, आर्य सुहस्ती ४६ और गुणसुंदर ४४ वर्ष तक युगप्रधान रहे, एवं निर्वाण को ३३५ वर्ष व्यतीत हुए।

उसके बाद निगोद व्याख्याता कालकाचार्य[४६] ४१ वर्ष और सांडिल्य ३८ वर्ष युगप्रधान रहे और निर्वाण के ४१४ वर्ष पूरे हुए।

जाय कि ये २४६ वर्ष स्थूलभद्र के पीछे उनके शिष्य महागिरि की जीवित दशा के सूचक हैं तो इसका अर्थ यह होगा कि आर्य्य महागिरि का स्वर्गवास निर्वाण संवत् २६१ के अंत में हुआ था। मेरी इस मान्यता के अनुसार आर्य्य स्थूलभद्र, महागिरि और सुहस्ती के भिन्न भिन्न प्रसंगों का काल-सूचक कोष्टक नीचे लिखे अनुसार बन सकता है—

निर्वाण से (गतवर्ष)		जन्म	दीक्षा	यु० प्र० पद	यु० प्र० पद निक्षेप	स्वर्ग०
१	स्थूलभद्र	१२६	१४६	१७०	२१५	२२५
२	आर्य्य महागिरि	१६१	१९१	२१५	२४५	२६१
३	आर्य्य सुहस्ती	१९१	२२१	२४५	०	२९१

४६ कहते हैं कि ये कालकाचार्य्य निगोद के जीवों के संबंध में अच्छा व्याख्यान कर सकते थे, जिससे एक बार इंद्र ने ब्राह्मण के वेश में इनके पास आकर निगोद का व्याख्यान सुना था और इनकी स्तुति की थी। निगोद के व्याख्यान में कुशल होने से ये निगोद-व्याख्याता के नाम से प्रसिद्ध थे। कालकाचार्य्य नाम के अनेक आचार्यों के हो जाने से व्यवच्छेदार्थ यहाँ पर "निगोदवक्खाय" यह विशेषण ग्रहण किया है। इनको निर्वाण से ३३५ वें वर्ष के अंत में युगप्रधान पद मिला और ४१ वर्ष तक ये इस पद पर रहे, जैसा कि स्थविरावली की गाथा में कहा है। परंतु विचारश्रेणि के परिशिष्ट में एक गाथा है जो इनका ३२० में होना प्रतिपादित करती है। पाठकों के विलोकनार्थ वह गाथा नीचे उद्धृत की जाती है—

"सिरिवीरजिणिंदाओ, वरिससया तिन्निवीस (३२०) अहियाओ।
कालयसूरी जाओ, सक्को पडिबोहिओ जेण ॥ १ ॥"

मालूम होता है, इस गाथा का आशय कालक सूरि के दीक्षा समय को निरूपण करने का होगा।

"उज्जेणिकालखमणा, सागरखमणा सुवन्नभूमीए।
पुच्छा आउय सेसं, इंदो सादिव्वकरणं च ॥"

—उत्तराध्ययन नियुक्ति।

इस गाथा में सागर के दादागुरु कालकाचार्य्य के साथ इंद्र का प्रश्न आदि होना लिखा है, गर्दभिल्लोच्छेदक, चतुर्थी पर्युषणाकारक और अविनीत शिष्य परिहारक एक ही कालकाचार्य्य थे, जो ४५३ में विद्यमान थे और श्यामाचार्य्य

रेवतीमित्र ३६ वर्ष और आर्यमंगू २० वर्ष तक युगप्रधान रहे। तब तक निर्वाण को ४७० वर्ष हो गए।

की अपेक्षा दूसरे थे। प्रस्तुत स्थविरावलि की गाथा में प्रथम कालकाचार्य्य को निगोद व्याख्याता लिखा है जो कि इस विषय का एक स्पष्ट मतभेद है।

रत्नसंचय में ४ संगृहीत गाथाएँ हैं, जिनमें निर्वाण से ३३५, ४५४, ७२०, और ९९३ में कालकाचार्य्य नामक आचार्यों के होने का निर्देश है। इनमें से पहले और दूसरे समय में होनेवाले कालकाचार्य्य क्रमशः निगोद व्याख्याता और गर्दभिल्लोच्छेदक कालकाचार्य्य हैं। इसमें तो कोई संदेह नहीं है पर ७२० वर्षवाले कालकाचार्य्य के अस्तित्व के संबंध में अभी तक दूसरा कोई प्रमाण नहीं मिला।

दूसरे इस गाथोक्त कालकाचार्य्य को शक्र-संस्तुत लिखा है जो ठीक नहीं, क्योंकि शक्र-संस्तुत और निगोद-व्याख्याता कालकाचार्य्य तो एक ही थे, जो पन्नवणाकर्ता और श्यामाचार्य्य के नाम से भी प्रसिद्ध थे, और उनका समय ३३५ से ३७६ तक निश्चित है। इससे इस गाथोक्त समय के कालकाचार्य्य के विषय में पूर्ण संदेह है।

९९३ में कालकाचार्य्य होने और चतुर्थी को पर्युषणा करने के संबंध में लिखी हुई यह गाथा अनेक जगह मिलती है पर उस समय में सांवत्सरिक पर्व संबंधी घटना बनी नहीं थी। इसलिये ये गाथावाले कालकाचार्य्य भी वास्तव में हुए या नहीं यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते। पर हाँ, युगप्रधान-पट्टावलियों में एक 'कालक' नाम के युगप्रधान का उल्लेख है, और उनका युगप्रधानत्व समय भी उन पट्टावलियों की प्रचलित गणनानुसार वीर संवत् ९८१ से ९९३ पर्यंत का है। यदि ९९३ वाले कालक ये ही मान लिए जायँ तो कोई विरोध नहीं है। जिन गाथाओं का ऊपर निर्देश किया है, वे नीचे दी जाती हैं—

"सिरिवीराओ गएसु, पणतीसहिएसु तिसय (३३५) वरिसेसु।
पढमो कालगसूरी, जाओ सामज्जनामुत्ति ॥ ५५ ॥
चउसयतिपन्न (४५३) वरिसे, कालगगुरुणा सरस्सरी गहिआ।
चउसयसत्तरि वरिसे, वीराओ विक्कमो जाओ ॥ ५६ ॥
पंचेव य वरिससए, सिद्धसेणो दिवायरो जाओ।
सत्तसयवीस (७२०) अहिए, कालिगगुरू, सक्कसंथुणिओ ॥ ५७ ॥
नवसयतेणउएहिं (९९३), समइक्कंतेहिं वद्धमाणाओ।
पज्जोसवणचउत्थी, कालिकसूरीहिंतो ठविआ ॥ ५८ ॥

—रत्नसंचयप्रकरण पत्र ३२।

इसी बीच में ४५३ में कालकाचार्य हुए[४७]।

इसके बाद आर्यधर्म २४, भद्रगुप्त ३९, श्रीगुप्त १५ और वज्र ३६ वर्ष युगप्रधान पद पर रहे। इस तरह निर्वाण को ५८४ वर्ष हुए।

वज्र के बाद आर्यरक्षित १३ और पुष्यमित्र २० वर्ष युगप्रधान रहे। इसी अर्से में वीर निर्वाण से ६०५ वर्ष बीतने पर शक संवत्सर की उत्पत्ति हुई।

संगति

अब हमें यह देखना है कि उक्त दोनों जैन गणना-पद्धतियाँ परस्पर संगत हैं या नहीं, तथा अन्य ऐतिहासिक जैन परंपराओं से उनका मेल खाता है या नहीं?

---

४७ '४५३ में कालकाचार्य्य हुए' यह उल्लेख कालकाचार्य्य द्वारा किए गए गर्दभिल्ल के उच्छेदवाली घटना का स्मारक है। मेरुतुंग सूरि का यह कथन कि 'इस वर्ष में कालकाचार्य्य की आचार्य्य पद-स्थापना हुई (अस्मिंश्च वर्षे गर्दभिल्लोच्छेदकस्य श्रीकालकाचार्य्यस्य सूरिपदप्रतिष्ठाऽभूत्।' विचार-श्रेणि प० ३) ठीक नहीं है। गर्दभिल्लवाली घटना के बहुत पहले ही कालक को आचार्य्य पद प्राप्त हो गया था। आचार्य्य कालक के संबंध में लिखा गया है कि पारिस कुल में जाकर उन्होंने निमित्त के बल से साहि राजा को वश किया था। कालक के निमित्त अध्ययन के संबंध में पंचकल्प चूर्णि में लिखा है कि 'वे (कालक) ऐसे विद्वान् होने पर भी ऐसा मुहूर्त नहीं जान सके कि जिसमें दीक्षा देने से शिष्य स्थिर हों। इस निर्वेद से उन्होंने आजीवकों के पास निमित्त पढ़ा।'

चूर्णि का निम्नलिखित उल्लेख देखिए—

"तो गणुओगे अज्जकाल गा। सउज्जेतवासिणा (?) एत्तिउं पढिउं सो न णाओ मुहुत्तो जत्थ पव्वाविओ थिरो होज्जा। तेण निव्वेएण आजीवगाण सगासे निमित्तं पढियं।"

—पञ्चकल्पचूर्णि, प० २४।

इससे यह बात स्पष्ट होती है कि आचार्य्य होने के बाद अपने शिष्यों का अस्थैर्य्य देखकर उन्होंने निमित्त पढ़ा, फिर वे पारिस में गए और उसके बाद ४५३ में गर्दभिल्ल का उच्छेदन कराया। इस प्रकार ४५३ के बहुत पहले ही कालक की आचार्य्य पद स्थापना हो चुकी थी।

जहाँ तक मेरा अनुमान है, इन दोनों गणनाओं में पारस्परिक कोई विरोध नहीं है। दोनों का विषय भिन्न भिन्न होने से इनमें विरोध होने का कारण भी नहीं है।

स्थविर गणनानुसार स्थविर भद्रबाहु का स्वर्गवास निर्वाण से १७० वें वर्ष में आता है और राजत्वकाल-गणना का प्रतिपादक "तित्थोगाली पइन्नय" भी भद्रबाहु का स्वर्गवास निर्वाणाब्द १७० में ही बताता है[४८]। इससे १७० तक तो ये दोनों पद्धतियाँ बराबर संगत हैं।

दोनों पद्धतियाँ निर्वाण और शक संवत्सर का अंतर ६०५ वर्ष प्रतिपादित करती हैं। इससे भी इनका आपस का मेल स्पष्ट हो जाता है।

परंतु हाँ, कतिपय ऐतिहासिक जैन परंपराएँ ऐसी भी हैं, जिनका प्रथम गणना से ठीक मेल नहीं खाता, और जब तक इन बेमेल परंपराओं से उपस्थित होते हुए विरोध का परिहार न होगा तब तक उक्त गणना की निर्दोषिता का सिद्ध होना कठिन है, और इस प्रकार शंकित गणना के आधार पर की गई निर्वाण संवत्सर-गणना का भी निश्शंकित होना असंभव है।

भद्रबाहु और चंद्रगुप्त

सूचित जैन परंपराओं में एक परंपरा स्थविर भद्रबाहु और मौर्य सम्राट् चंद्रगुप्त की समानकालीनता संबंधी है।

(१) चंद्रगुप्त के राजत्वकाल में जब बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ा उस समय और उसके पीछे भी बहुत दिनों तक भद्रबाहु जीवित रहे।

---

४८ यद्यपि तित्थोगाली में भद्रबाहु का १७० में स्वर्गवास होने का नाम-पूर्वक उल्लेख नहीं है, तथापि १७० में स्थूलभद्र की विद्यमानता में चौदपूर्वों के विच्छेद होने का उल्लेख स्पष्ट है, इसलिये वास्तव में यह उल्लेख चौदपूर्वों का विच्छेद बताने के बहाने भद्रबाहु के स्वर्गगमन के समय की ही सूचना देता है। इस वस्तुस्थिति की प्रतिपादिका गाथा यह है—

"चौदसपुव्वच्छेदो, वरिससते सत्तरे विणिद्दिट्ठो।
साहुम्मि थूलभद्दे, अन्ने य इमे भवे भावा ॥ ७०१ ॥"

—तित्थोगाली पइन्नय।

(२) चंद्रगुप्त को एक समय १६ अनिष्ट स्वप्न आए। राजा ने स्थविर भद्रबाहु के पास जाकर उनका फल पूछा। इसके उत्तर में स्थविरजी ने दुष्षमाकाल के भावी अनर्थों का वर्णन किया।

(३) चंद्रगुप्त भद्रबाहु से जैन-दीक्षा ग्रहण कर उनके साथ दक्षिण देश की ओर चला गया।

ऊपर की दंतकथाएँ भद्रबाहु और चंद्रगुप्त की समकालीनता की द्योतक हैं। यदि इन प्रवादों को ठीक मान लिया जाय तो चंद्रगुप्त का सत्ता-समय जिन-निर्वाण से १७० वर्ष के अनंतर नहीं हो सकता।

अब राजत्वकाल-गणना का हिसाब देखिए। वह चंद्रगुप्त के समय का प्रारंभ निर्वाण से २१० (६०+१५०=२१०) वर्ष पीछे बताती है। यह बात इस गणना में शंका उत्पन्न करनेवाली है। संभव है, उक्त दंतकथाओं को सत्य मानकर ही आचार्य हेमचंद्रजी ने परिशिष्ट पर्व में विचारपूर्वक ही निर्वाण के १५५वें वर्ष में चंद्रगुप्त का राजा होना लिखा होगा[४६]।

परंतु, जहाँ तक मैंने देखा है, भद्रबाहु-चंद्रगुप्तवाली उक्त कथाओं के लिये प्राचीन जैनसाहित्य में कोई स्थान नहीं है। प्रथम कथा-निर्माण का कोई भी कारण हो तो यही हो सकता है कि भद्रबाहु और चंद्रगुप्त—इन दोनों के समय में भिन्न भिन्न दुर्भिक्ष पड़े थे, जिनको पिछले लेखकों ने एक मान लिया। इसके परिणाम स्वरूप भद्रबाहु और चंद्रगुप्त के समसामयिक होने की किंवदंतियाँ प्रचलित हो चलीं।

आवश्यक चूर्णि, तित्थोगाली पइन्नय प्रमुख प्राचीन जैन ग्रंथों से प्रमाणित होता है कि भद्रबाहु के समय में जब दुर्भिक्ष पड़ा और उसके अंत में पाटलिपुत्र नगर में श्रमण संघ ने एकत्र हो ग्यारह अंगों की व्यवस्था की तथा बारहवाँ अंग पढ़ने के लिये स्थूलभद्र प्रमुख साधुओं को भद्रबाहु के समीप भेजा तब तक पाटलिपुत्र में

---

४६ "एवं च श्रीमहावीर-मुक्तेर्वर्षशते गते।
पंचपंचाशदधिके, चंद्रगुप्तोऽभवन्नृपः॥ ३३६॥"
—हेमचंद्र सूरि कृत, परिशिष्ट पर्व सर्ग ८ पृ० ८२।

नंद का ही राज्य था। चंद्रगुप्त का इस घटना के साथ कहीं भी नामोल्लेख तक नहीं है[१०]।

हाँ, निशीथचूर्णि आदि ग्रंथों में चंद्रगुप्त के समय में दुष्काल पड़ने का उल्लेख अवश्य मिलता है, पर इससे यह कैसे मान लिया जाय कि भद्रबाहु के समय का और यह दुर्भिक्ष एक ही था ?

भद्रबाहु से स्वप्नों का फल पूछनेवाली कथा का भी किसी प्राचीन जैन ग्रंथ में उल्लेख नहीं है। षोडशस्वप्नाधिकार, भद्रबाहु-चरित और इसी कोटि के अर्वाचीन ग्रंथों में यह कथा अवश्य उपलब्ध होती है। पर अर्वाचीन दंतकथाओं के[११] आधार पर भद्रबाहु और चंद्रगुप्त को समकालीन मानना युक्तिसंगत नहीं है।

---

१० यद्यपि संघ एकत्र होने के संबंध में नंदराज्य का स्पष्टोल्लेख नहीं है, पर अनुवृत्ति से अधिकार नंद का ही चल रहा है, चंद्रगुप्त का प्रसंग उसके बहुत पीछे आता है, इससे सिद्ध है कि पाटलिपुत्र में जब जैन संघ की पहली सभा हुई उस समय वहाँ नंद का ही राज्य था।

११ सोलह स्वप्न-संबंधी कथा की नूतनता उसकी भाषा से तो सिद्ध होती ही है प्रत्युत उसके अभ्यंतर तथ्य से भी यह बात कल्पित साबित होती है। यहाँ पर उसमें से कुछ वृत्तांत के अंश दिए जाते हैं, जिनसे पाठकगण को विश्वास हो जायगा कि वस्तुतः स्वप्न संबंधी कथा आधुनिक कल्पना है।

(१) "संभूयविजयस्स सीसे जुगप्पहाणे भद्दबाहुनामं अणगारे।"

(२) "अज्जपभइ कोवि राया संजमं न गिण्हिस्सइ।"

(३) "केवलनाणं वोच्छिज्जिस्सई"।

(४) "चेइदव्वआहारिणो मुणी भविस्संति। लोभेणं मालारोवणउवहाणाइमाईणि बहवो तत्थ पभावा पथाइस्संति।"

(५) "वइस्स हत्थे सो (?) भविस्सइ तेणं वाणीयगा अणेगमग्गे गिण्हिस्संति।"

(६) "खत्तियकुमारा राय भट्ठा भविस्संति जवणा सव्वे गिन्हिस्संति।"

(७) "तं सुच्चा राया निविन्नकामो पुत्तं रज्जे ठविऊण विरागभावे चारित्तं पालिऊणं देवलोयं गओ।"

पहले अवतरण में भद्रबाहु को संभूतविजयजी का शिष्य लिखा है जो कि जैन ग्रंथों से सम्मत नहीं है। भद्रबाहु यशोभद्र के शिष्य और संभूतविजयजी के गुरुभाई थे।

अब रही भद्रबाहु के पास मौर्य चंद्रगुप्त के दीक्षा लेने की बात, सो यह बात भी दंतकथा से बढ़कर अधिक मूल्य की नहीं है। इस कथा का श्वेतांबर जैन साहित्य में तो उल्लेख नहीं है, पर प्राचीन

दूसरे में कहा गया है कि 'अब से कोई राजा दीक्षा नहीं लेगा।' परंतु आगे जाकर चंद्रगुप्त को ही दीक्षा दिलाई गई है, जो कि 'वदतो व्याघात' है। दूसरे श्वेतांबर साहित्य में यह भविष्यवाणी महावीर के मुख से ही प्रकाशित कराई गई है। अभयकुमार के पूछने पर महावीर ने फरमाया था कि राजा उदायन के बाद कोई मुकुटधारी राजा संयम नहीं लेगा। देखो आवश्यक चूर्णि का निम्नलिखित पाठ—

"अभओ किर सामिं पुच्छति 'को अपच्छिमो रायरिसित्ति' सामिणा भणितं उद्दायणो, अतो परं बद्धमउडो न पव्वयति।"

इससे स्पष्ट है कि भद्रबाहु की यह भविष्यवाणी वास्तव में जैन मान्यता से विरुद्ध अर्वाचीन कल्पना है।

तीसरे अवतरण में भद्रबाहु के मुख से कहलाया है कि 'अब से केवल ज्ञान का विच्छेद होगा' परंतु जैन सिद्धांत में जंबुस्वामी के साथ ही केवल ज्ञान का विच्छेद होना लिखा है। इसलिये भद्रबाहु के मुख से केवल ज्ञान का विच्छेद कहलाना अर्थशून्य कल्पना है।

चौथे अवतरण में कहा है कि 'देवद्रव्य खानेवाले साधु होंगे। वे लोभ से मालारोपण उपधान आदि अनेक बातें प्रकाशित करेंगे।'

इस उक्ति से स्पष्ट होता है कि यह कथन चैत्यवास की उत्पत्ति के बाद की स्थिति की सूचना देता है।

पाँचवें अवतरण में कहा गया है कि 'अब से धर्म वैश्य जाति के हाथ में जायगा। बनिए अनेक मार्ग ग्रहण करेंगे।'

इस वाक्य से मालूम होता है कि जैन धर्म के जाति-धर्म बनने के बाद का यह उल्लेख है।

छठे अवतरण में कहा गया है कि 'क्षत्रिय कुमार राज्यभ्रष्ट होंगे और सब यवनों के हाथ में चला जायगा।' इससे भी यह ध्वनित होता है कि हिंदुस्तान में मुसलमानों की सत्ता होने के बाद की यह रचना होनी चाहिए।

सातवें अवतरण में चंद्रगुप्त के दीक्षा लेने की बात है, जो कि श्वेतांबर ग्रंथों के विरुद्ध है। परिशिष्ट पर्व आदि में चंद्रगुप्त के जैन होने की बात अवश्य है, पर वहाँ गृहस्थधर्म में रहते हुए उसका अंतकाल होना लिखा है। दीक्षा लेने की कोई बात नहीं है।

दिगंबर जैन साहित्य भी इसका समर्थन नहीं करता। इस कथा का दिगंबरीय ग्रंथों में जिस ढंग से वर्णन किया है उसे देखकर यही कहना पड़ता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु और मौर्य चंद्रगुप्त का इसके साथ कुछ भी संबंध नहीं है। प्राचीन लेखों में इस कथा के नायक भद्रबाहु को कहीं भी श्रुतकेवली नहीं लिखा है, प्रत्युत उन्हें निमित्त-वेत्ता लिखा है, जो कि दिगंबरों के ही कथनानुसार दूसरे ज्योतिषी भद्रबाहु हो सकते[९२] हैं।

---

९२ श्रवण बेल्गोल के चंद्रगिरि पर्वत पर एक शिलालेख में भद्रबाहु और चंद्रगुप्त का उल्लेख है। इस लेख के शक संवत् ५७२ के आस पास के होने का अनुमान किया जाता है। यदि यह अनुमान ठीक मान लिया जाय तो यह कहना अनुचित नहीं होगा कि विक्रम की आठवीं सदी के प्रारंभ में ही चंद्र-गुप्त के भद्रबाहु का दीक्षित शिष्य होने की मान्यता दिगंबर संप्रदाय में हो चली थी। परंतु यह बात भी भूलने योग्य नहीं है कि इस लेख में न तो भद्रबाहु को श्रुतकेवली लिखा है और न चंद्रगुप्त को मौर्य्य।

दिगंबर साहित्य में इस विषय का सबसे प्राचीन उल्लेख हरिषेण कृत 'बृहत्कथा कोष' में पाया जाता है। यह ग्रंथ शक संवत् ८५३ का रचा हुआ है। इसमें श्रुतकेवली भद्रबाहु के मुख से दुर्भिक्ष संबंधी भविष्यवाणी सुनकर उज्जयिनी के राजा चंद्रगुप्त के दीक्षा लेने का उल्लेख है। आगे चलकर चंद्रगुप्त के दशपूर्वधर विशाखाचार्य्य के नाम से संघ का नायक बनने का उल्लेख भी इस कथा ग्रंथ में किया है। यह सब होते हुए भी चंद्रगुप्त को उज्जयिनी का राजा कहकर कथाकार ने इस कथा की वास्तविकता की सूचना तो कर ही दी। भद्रबाहु के दक्षिण देश में जाने संबंधी और चंद्रगुप्त के उज्जयिनी का राजा होने संबंधी तथ्य से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ये भद्रबाहु श्रुतकेवली-भद्रबाहु से भिन्न थे, और चंद्रगुप्त भी पाटलिपुत्र के मौर्य चंद्रगुप्त से भिन्न था।

पार्श्वनाथ वस्ति में लगभग शक संवत् ५२२ के आसपास का लिखा हुआ एक शिलालेख है। उसमें भद्रबाहु की सूचना से संघ के दक्षिण में जाने का उल्लेख है, पर उस लेख से यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि जिनकी दुर्भिक्षसंबंधी भविष्यवाणी से जैन संघ दक्षिणापथ को गया था वे भद्रबाहु श्रुतकेवली नहीं पर श्रुतकेवली की शिष्य-परंपरा में होनेवाले दूसरे भद्रबाहु थे जिनकी निमित्तवेत्ता के नाम से प्रसिद्धि हुई थी। देखो उक्त लेख का एक खंड—

चंद्रगुप्त को भी मौर्य अथवा पाटलिपुत्र का राजा न लिखकर उसे उज्जयिनी का राजा लिखा है[५३]।

इस घटना का समय भी विक्रम की पहली या दूसरी शताब्दी के आसपास लिखा है[५४]।

"+ + + महावीरसवितरि परिनिर्वृते भगवत्परमर्षि गौतमगणधरसाक्षाच्छिष्यलोहार्य- जम्बु-विष्णुदेवापराजित-गोवर्द्धन-भद्रबाहु-विशाख-प्रोष्ठिल-कृत्तिकार्य - जयनाम-सिद्धार्थ-धृतिषेण-बुद्धिलादि-गुरु-परम्परीणक्र(क)माभ्यागत-महापुरुषसंततिसमवद्योतितान्वय-भद्रबाहुस्वामिना उज्जयन्यामष्टांगमहानिमित्ततत्त्वज्ञेन त्रैकाल्यदर्शिना निमित्तेन द्वादशसंवत्सरकालवैषम्यमुपलभ्य कथिते सर्वसंघ उत्तरापथाद्दक्षिणापथं प्रस्थितः।"

५३ देखो भद्रबाहुचरित्र का निम्नलिखित पाठ—

"अवंतीविषयेऽत्राथ, विजिताखिलमंडले।
विवेकविनयानेक-धनधान्यादिसंपदा ॥ ५ ॥
अभादुज्जयिनी नाम्ना, पुरी प्राकारवेष्टिता।
श्रीजिनागारसागार-मुनिसद्धर्ममंडिता ॥ ६ ॥
चंद्रावदातसत्कीर्त्तिश्चंद्रवन्मोदकर्तृ (कृन्नृ)णाम्।
चंद्रगुप्तिर्नृपस्तत्राऽचकच्चारुगुणोदयः ॥ ७ ॥

—भट्टारक रत्नानंदि कृत भद्रबाहुचरित्र २ परिच्छेद।

५४ दिगंबराचार्यों के लेखों के आधार पर द्वितीय भद्रबाहु का सत्ता-समय विक्रम की दूसरी सदी के आसपास प्रमाणित होता है। 'अंगपन्नत्ति' के कर्त्ता भट्टारक शुभचंद्र इन द्वितीय भद्रबाहु को प्रथमांगधर (आचारांगवेत्ता) लिखते हैं। देखो पन्नत्ति की यह गाथा—

"अग्गिम अंगि सुभद्दो, जसभद्दो भद्दबाहुपरमगणी।
आयरियपरंपराइ, एवं सुदणाणमावहदि ॥ ४७ ॥"

—अंगपन्नत्ति।

परंतु ब्रह्म हेमचंद्र ने अपने श्रुतस्कंध में अंगश्रुत की परंपरा विच्छिन्न होने के बाद में द्वितीय भद्रबाहु की सत्ता का निर्देश किया है। जिन-निर्वाण पीछे केवली वर्ष ६२, श्रुतकेवली वर्ष १००, दश पूर्वधर वर्ष, १८३ एकादशांगधर वर्ष २२०, एकांगधर और अंगदेशधर वर्ष ११८ तक रहे। इस प्रकार अंग-श्रुत की प्रवृत्ति निर्वाण से ६८३ वर्ष पर्यंत रहकर विच्छिन्न हुई। यह ६८३ वर्ष का इतिहास लिखने के बाद हेमचंद्र द्वितीय भद्रबाहु के संबंध में 'श्रुतस्कंध' में नीचे मुजब उल्लेख करते हैं—

"आयरिओ भद्दबाहू, अट्ठंगमहणिमित्तजाणयरो ।
णिण्णासइ कालवसे, स चरिमो हु णिमित्तिओ होदि ॥८०॥"

—अब शुभचंद्र के कथनानुसार यदि भद्रबाहु को प्रथमांगधर मान लिया जाय तब तो उनका अस्तित्व विक्रम की प्रथम शताब्दी में मानना ही संगत हो सकता है, परंतु अब हेमचंद्र आदि का कथन ठीक मानकर यदि भद्रबाहु का समय अंगज्ञान के विच्छेद होने के बाद का मान लें तो इसका अर्थ यही होगा कि वीरनिर्वाण ६८३ (विक्रम २१२) के बाद ये नैमित्तिक भद्रबाहु हुए, परंतु दिगंबर विद्वानों के लेखों से पाया जाता है कि द्वितीय भद्रबाहु—जिनसे सरस्वती गच्छ की नंदि आम्नाय की पट्टावली प्रारंभ होती है—ईसवी सन् से ५३ वर्ष और शाक संवत् से १३१ वर्ष पूर्व हुए। पट्टावली में इनके शिष्य का नाम गुप्तिगुप्त लिखा है। डा० फ्लीट का मत है कि दक्षिण की यात्रा करनेवाले ये ही द्वितीय भद्रबाहु थे और 'चंद्रगुप्त' उनके शिष्य गुप्तिगुप्त का ही नामांतर है। हमारा भी यही मत है कि यदि भद्रबाहु ने दक्षिण की यात्रा की हो, तो वे द्वितीय भद्रबाहु ही हो सकते हैं, परंतु द्वितीय भद्रबाहु का जो अस्तित्व-समय माना गया है वह ठीक नहीं जँचता। हेमचंद्र के उक्त लेख के अनुसार भद्रबाहु का समय विक्रम की तीसरी सदी का प्रारंभकाल मान लिया जा सकता है परंतु उसमें यह स्पष्ट नहीं लिखा है कि अंगश्रुत का विच्छेद होने के बाद तुरंत ही भद्रबाहु हुए थे। उस उल्लेख का तात्पर्य्य इतना ही हो सकता है कि अंगश्रुत का अंत होने के बाद के प्रसिद्ध आचार्यों में प्रथम पुरुष भद्रबाहु थे, पर इससे यह मानने में क्या बाधक है कि ये भद्रबाहु अंगश्रुत की प्रवृत्ति-विच्छेद होने के बाद करीब ढाई तीन सौ वर्ष के बाद हुए हों? इनके नंदि आम्नाय के आदि पुरुष होने की मान्यता से भी यही सिद्ध होता है कि ये भद्रबाहु विक्रम की छठी सदी के पहले के नहीं हो सकते। यद्यपि इन भद्रबाहु को नंदिसंघ की पट्टावली में आचार्य्य कुंदकुंद का पुरोगामी लिखा है, परंतु इस पट्टावली-लेख को प्रामाणिक मानने के पहले बहुत सोचने की जरूरत है, क्योंकि प्राचीन लेखों में आचार्य्य कुंदकुंद को ही मूल संघ का नायक लिखा है। देखो श्रवण बेलगोल की कत्तिले बस्ती के एक स्तंभ पर के शिलालेख का निम्नलिखित श्लोक—

"श्रीमतो वर्द्धमानस्य, वर्द्धमानस्य शासने ।
श्री कोंडकुंद नामाभून्मूलसंघाग्रणीर्गणी ॥३॥"

अर्थात् "श्रीमान् वर्द्धमान स्वामी के शासन में मूल संघ के नायक कोंडकुंद नामक आचार्य हुए।"

इन सब बातों को ध्यान में लेने पर यही कहना होगा कि इस कथा का श्रुतकेवली भद्रबाहु और मौर्य चंद्रगुप्त के साथ कोई संबंध नहीं हो सकता। संभव है, गुप्तों के समय में चंद्रगुप्त नामक किसी गुप्तवंशीय व्यक्ति ने वराहमिहिर के भाई भद्रबाहु नामक जैन आचार्य से जैन दीक्षा ली हो जिसे पिछले लेखकों ने अविवेक से श्रुतकेवली भद्रबाहु और मौर्य चंद्रगुप्त के नाम के साथ लगा दिया।

चंद्रगुप्त को लेकर भद्रबाहु का दक्षिणापथ की तरफ जाना भी यही बतलाता है कि ये भद्रबाहु प्रतिष्ठानपुर के ज्योतिषी वराहमिहिर के भाई दूसरे भद्रबाहु ही थे[५५], क्योंकि श्रुतकेवली भद्रबाहु के

और, दूसरे दिगंबरीय संघ गण गच्छ और शाखाएँ इसी मूल संघ का विस्तार होने से नंदि शाखा भी इस मूलसंघ और इसके अग्रणी आचार्य कोंड-कुंद के पीछे की ही हो सकती है। और जब नंदि शाखा कुंदकुंद के बाद के समय की है तब इसके प्रवर्तक भद्रबाहु भी कुंदकुंद से अर्वाचीन ही हो सकते हैं। इसलिये हमारे विचार से ये द्वितीय भद्रबाहु विक्रम की छठी या पाँचवीं शताब्दी के पहले के नहीं हो सकते। श्वेतांबर ग्रंथकार जिन भद्रबाहु को वराहमिहिर का भाई लिखते हैं वे ये ही द्वितीय भद्रबाहु हो सकते हैं।

५५ श्वेतांबर जैन ग्रंथों में भद्रबाहु को ज्योतिषी वराहमिहिर का भाई लिखा है। देखो नीचे लिखा हुआ उल्लेख—

"प्रतिष्ठानपुरे वराहमिहिरभद्रबाहुद्विजौ बांधवौ प्रव्रजितौ। भद्र-बाहोराचार्यपददाने रुष्टः सन् वराहो द्विजवेषमादृत्य वाराहीसंहितां कृत्वा निमित्तैर्जीवति।"

—कल्पकिरणावली १६३।

परंतु इन्हीं भद्रबाहु को श्वेतांबर लेखक श्रुतकेवली कहते हैं। यह ठीक नहीं है, क्योंकि ज्योतिषी वराहमिहिर शक संवत् ४२७ में विद्यमान था ऐसा पंचसिद्धांतिका की निम्नलिखित आर्या से निश्चित है—

"सप्ताश्विवेदसंख्यं, शककालमपास्य चैत्रशुक्लादौ।
अर्द्धास्तमिते भानौ, यवनपुरे सौम्यदिवसाद्ये ॥ ८ ॥"

—पञ्चसिद्धान्तिका।

जब वराहमिहिर का अस्तित्व शक संवत् ४२७ (निर्वाण १०१२) में निश्चित है तब उसके भाई भद्रबाहु श्रुतकेवली नहीं हो सकते। वस्तुतः

दक्षिण देश में विहार करने का कोई प्रमाण नहीं है। इससे उल्टा दुर्भिक्ष के अंत में भद्रबाहु का नेपाल के मार्ग में होना[१६] और इनके शिष्यों का ताम्रलिप्ति और पुंड्रवर्धन में चिरकाल रहना[१७] यह बताता

श्रुतकेवली-भद्रबाहु और वराहमिहिर के भाई ज्योतिषी-भद्रबाहु भिन्न व्यक्ति थे। दिगंबराचार्यों ने इन दोनों को भिन्न ही माना है, परन्तु ज्योतिषी भद्रबाहु को वे विक्रम की पहली शताब्दी में हुआ मानते हैं। यह गलती है। हमारे विचार में वराहमिहिर का जो समय है वही इन भद्रबाहु का भी अस्तित्व-समय होना चाहिए। जैसे दिगंबर जैन ग्रंथों में द्वितीय भद्रबाहु को 'चरम-निमित्तधर' लिखा है, वैसे ही श्वेतांबर जैन ग्रंथों में भी भद्रबाहु को 'निमित्त-वेत्ता और भद्रबाहु संहिता नामक ग्रंथ का प्रणेता' लिखा है, पर इन प्रतिष्ठान-निवासी वराहमिहिर के भाई भद्रबाहु को श्रुतकेवली भद्रबाहु से भिन्न नहीं माना—यह एक चिरकालीन भूल कही जा सकती है। संभवतः वराहमिहिर के भाई भद्रबाहु छठीं सदी के विद्वान् होंगे। इसी समय के लगभग हरिगुप्त नामक किसी गुप्तराजवंश्य व्यक्ति ने जैसे श्वेतांबर संप्रदाय में दीक्षा ली थी वैसे ही चंद्रगुप्त नामक राजवंशी पुरुष ने भी इन भद्रबाहु के पास दीक्षा अंगीकार की होगी और नवदीक्षित चंद्रगुप्त को लेकर उक्त आचार्य दक्षिणा-पथ की तरफ गए होंगे।

१६ देखो निम्नलिखित आवश्यक चूर्णि का लेख—"तंमि य काले बारसवरिसो दुक्कालो उवट्ठितो संजताइतो य समुद्दतीरे अच्छित्ता पुणरवि पाडलिपुत्ते मिलिता अण्णस्सउद्देसओ अण्णस्स खंडं एवं संघाडितेहिं तेहिं एक्कारस अंगाणि संघातिताणि, दिट्ठिवादो नत्थि, नेपालवत्तणी भयवं भद्दबाहु-स्सामी अच्छति चोद्दसपुव्वी।"

—आवश्यक चूर्णि २४२

१७ स्थविर भद्रबाहु के शिष्य गोदास से निकले हुए गोदासगण की ४ शाखाएँ थीं, ऐसा कल्पसूत्र की "थेरावली' में लिखा है। देखो नीचे लिखी हुई कल्पसूत्र की पंक्तियाँ—

"थेरेहिंतो गोदासेहिंतो कासवगुत्तेहिंतो इत्थणं गोदासगणे नामं गणे निग्गए, तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ एवमाहिज्जंति, तंजहा—ताम-लित्तिया कोडीवरिसिया, पुंडवद्धणिया, दासीखब्बुडिया।"

इनमें पहली शाखा 'तामलित्तिया' की उत्पत्ति वंग देश की उस समय की राजधानी तामलित्ती वा ताम्रलिप्ति से थी, जो दक्षिणी बंगाल का एक प्रसिद्ध बंदर था। दूसरी शाखा 'कोडीवरिसिया' की उत्पत्ति कोटिवर्ष नगर

है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु और उनका समुदाय दुर्भिक्ष के समय पूर्व देश को छोड़कर कहीं नहीं गया था[५८]।

से थी। यह नगर भी राढ देश (आजकल के मुर्शिदाबाद जिला—पश्चिमी बंगाल) की राजधानी थी। तीसरी शाखा 'पुंडबद्धणिया' थी, जो 'पुंड्र-वर्द्धन' (उत्तरी बंगाल की राजधानी) से उत्पन्न हुई थी। इन तीनों शाखाओं के उत्पत्तिस्थान पूर्व समुद्र और गंगा नदी के निकट बंगाल में थे, इनमें अधिक समय तक निवास करने के कारण गोदासगण के साधु-समुदाय की शाखाएँ इन स्थानों के नाम से प्रसिद्ध हुई थीं। इससे यह बात निश्चित है कि दुर्भिक्ष के समय में भद्रबाहु और उनका साधु-समुदाय बंगाल में, जहां सजलता के कारण दुष्काल का अधिक असर न था वहाँ ही, ठहरा था।

५८ टिप्पणी नंबर ५६ में दिए हुए आवश्यक चूर्णि के पाठ में यह भी सूचित किया है कि दुर्भिक्ष के समय में साधु-समुदाय समुद्र के तट पर की बस्तियों में चला गया था। आचार्य हेमचंद्र भी परिशिष्ट पर्व में यही बात कहते हैं। देखो निम्नलिखित श्लोक—

"इतश्च तस्मिन् दुष्काले, कराले कालरात्रिवत्।
निर्वाहार्थं साधुसंघस्तीरं नीरनिधेर्ययौ ॥ ५५ ॥"

—परिशिष्ट पर्व सर्ग ९।

श्वेतांबर संघ के मान्य विद्यमान आगमों में निशीथ, बृहत्कल्प और व्यवहार नामक सूत्रों का बड़ा महत्त्व है। ये तीनों छेदसूत्र हैं और इनके कर्ता भगवान् भद्रबाहु श्रुतकेवली हैं। यद्यपि इनमें से व्यवहार सूत्र की भाषा कुछ अर्वाचीन प्रतीत होती है, तथापि हम इसे अभद्रबाहुकर्तृक नहीं कह सकते। हो सकता है कि पिछले समय में इसमें कुछ संस्कार हुए हों और भाषा और कहीं कहीं भाव भी बदल दिए गए हों, पर इतने ही कारण से इसे अभद्र-बाहुकर्तृक कहना योग्य नहीं है। इन तीनों सूत्रों में जो जो साधुओं के आचार विचार बताए हैं वे एकदम प्राचीन हैं। इनमें जो अपवाद मार्गों का निरूपण है वह अवश्य ही किसी समय-विशेष का सूचक है। जहाँ तक मेरा विचार है, ये तीनों अध्ययन (और कम से कम कल्पाध्ययन तो अवश्य ही) विषम समय की कृति है। इनका आंतर स्वरूप देखने से ये तीन बातें तो स्पष्ट हो जाती हैं कि इन सूत्रों की रचना कलिंग या बंगाल में हुई है। सूत्रकार के समय में कालसंबंधी विषम स्थिति थी; और साधुओं का समुदाय अधिक था।

कल्पाध्ययन के प्रारंभ के प्रलम्ब सूत्र और इसके भाष्य से तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि इस सूत्र की रचना दुर्भिक्ष के समय में तोसलि

हमारे इस विस्तृत विवेचन का तात्पर्य यही है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु और चंद्रगुप्त को समकालीन बतानेवाली आख्यायिकाएँ बिलकुल निराधार हैं। इन निराधार दंतकथाओं के भरोसे चंद्रगुप्त को भद्रबाहु के समय में खींच लाना और प्रस्तुत गणना-पद्धति को अविश्वसनीय कहना योग्य नहीं है।

आर्य सुहस्ती और राजा संप्रति

निशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार और पंचकल्प जैसे प्राचीन और प्रामाणिक जैन सूत्रों के भाष्यों और चूर्णियों में संप्रति के संबंध में यह कथा दी गई है कि 'राजा अशोक के पौत्र उज्जयिनी के राजा मौर्य संप्रति को जैन आचार्य आर्य सुहस्तीजी ने जैन बनाया और जैन उपासक बनकर संप्रति ने जैन धर्म की बहुत ही उन्नति की।'

युगप्रधानत्व काल-गणना में हम देख आए हैं कि निर्वाण से २९१वें वर्ष में आर्य सुहस्ती का स्वर्गवास हो जाता है, उधर 'राजत्व-काल-गणना' में निर्वाण से २१० वर्ष के बाद मौर्य राज्य का प्रारंभ होता है। पुराण और बौद्ध लेखों के अनुसार चंद्रगुप्त का २४, बिंदुसार का २५ और अशोक का ३६ वर्ष परिमित राजत्वकाल मान लिया जाय तो संप्रति का राज्य २९५ (२१० + २४ + २५ + ३६ = २९५) के पहले नहीं आ सकता[५९]। यह गणना उपर्युक्त कथा

देश (कलिंग के एक प्रांत) में हुई है। इससे यदि हम यह मान लें कि दुर्भिक्ष के पहले भद्रबाहु ने 'निशीथाध्ययन' की रचना की, दुर्भिक्ष के समय में उन्होंने तोसलि देश में रहते हुए 'कल्पाध्ययन' का निर्माण किया, और दुर्भिक्ष के बाद 'बृहत्कल्प' का संकलन किया तो कुछ भी अनुचित नहीं है। कुछ भी हो, पर एक बात तो निश्चित है कि दुर्भिक्ष के समय में श्रुत-केवली भद्रबाहु पूर्व देश में ही विचरते थे।

५९ आचार्य जिनसुंदर सूरि दीपाली-कल्प में संप्रति का निर्वाण संवत् ३०० में राजा होना बताते हैं। देखो निम्नलिखित श्लोक—

"दिनतो मम मोक्षस्य, गते वर्षशतत्रये।
उज्जयिन्यां महापुर्यां, भावी संप्रति भूपतिः॥ १०७॥"

—दीपाली कल्प, पृ० ११

के साथ जरा असंगत सी मालूम होती है। इस असंगति को मिटाने के लिये हमें संप्रति-चरित्र के विशेष अंशों पर दृष्टिपात करना होगा।

अशोक अपने बड़े पुत्र कुनाल को युवराज बनाकर उज्जयिनी का शासन देकर वहाँ भेज देता है, कारण-विशेष से कुनाल अंधा हो जाता[६०] है। लाचार हो अशोक उसे दूसरा गाँव देकर वहाँ भेजता

६० युवराज कुनाल अंध हो गया था, यह बात जैन और बौद्ध ग्रंथों से जानी जाती है। दोनों मतवाले कुनाल की अपर माता के द्वेष के कारण कुनाल का अंधा होना बताते हैं, पर उसके प्रकार भिन्न भिन्न हैं।

बौद्ध लेखकों ने इस विषय का 'दिव्यावदान' और 'अवदानकल्पलता' में बहुत विस्तार के साथ वर्णन किया है, पर उसका सारांश इतना ही है कि राज-कुँवर कुनाल की आँखें बहुत सुंदर थीं। अशोक की तिष्यरक्षिता नामक रानी ने इन सुंदर आँखों पर मोहित होकर कुनाल से अनुचित प्रार्थना की, पर कुनाल बड़ा सुशील था। उसने तिष्यरक्षिता की प्रार्थना का भंग कर दिया, इससे वह कुनाल पर बहुत ही नाराज हुई और अवसर मिलने पर इसका बदला लेने का उसने निश्चय कर लिया। उसके बाद राजा अशोक एक बार बीमार पड़ा और वैद्यों के अनेक उपचार करने पर भी वह अच्छा नहीं हुआ, तब रानी तिष्य-रक्षिता ने अपनी कुशल बुद्धि से राजा को नीरोग किया। राजा रानी पर बहुत प्रसन्न हुआ और उसे सात दिन का राज्याधिकार दिया। रानी ने कुनाल का वैर लेने के लिये अशोक के नाम से एक आज्ञा-पत्र तक्षशिला के अधिकारी-वर्ग के पास भेजा जिसमें लिखा कि 'कुनाल हमारे कुल में कलंकरूप है, इसलिये इसकी आँखें निकाल दी जायँ।' राजाज्ञा-भंग की कठोरता का विचार करते हुए तक्षशिला-निवासियों ने आँखें निकालने के लिये चांडालों को बुलाया पर उनको इस दुष्कार्य के करने का साहस नहीं हुआ, तब कुनाल ने स्वयं ही शलाका से अपनी आँखें निकालकर उस आज्ञा का पालन किया।

जैन लेखकों का इस संबंध में जो कथन है उसका सारांश यह है कि 'एक बार राजा अशोक ने अवंति के अधिकारियों को पत्र लिखा जिसमें लिखा गया कि 'अब कुमार विद्याध्ययन करे,' (अधीयउ कुमारो) उस समय अशोक की दूसरी रानी पास में बैठी हुई थी। राजा के कहीं जाने पर उसने पत्र को पढ़ा और सोचा कि यदि कुनाल पढ़ लिखकर होशियार हो गया तो मेरे पुत्र को राज्याधिकार नहीं मिलेगा, इस विचार से उसने कुनाल को अपांग बनाने के इरादे से "अधीयउ" के "अ" के ऊपर कजल का बिंदु लगाकर "अंधीयउ कुमारो" बना लिया। राजा ने बिना पढ़े ही पत्र बन्द करके उज्जयिनी भेज

है और उज्जयिनी का शासन दूसरे कुमार को दे देता है। पीछे से अपने गाँव में रहते हुए कुनाल के एक पुत्र होता है और कुनाल अपने पुत्र को अशोक के राज्य का उत्तराधिकारी बनाने की तरकीब सोचता[६१] है। गान-कला में प्रवीण कुनाल अपने पुत्र को साथ लेकर, गायक के वेष में, पाटलिपुत्र पहुँचता है और सामंत मंडलिकों

दिया। उज्जयिनी के अधिकारी पत्र को बाँचकर अवाक् रह गए, और कुनाल के पूछने पर उन्होंने आज्ञा की क्रूरता का कुमार से निवेदन किया। कुनाल ने प्रसन्नतापूर्वक राजाज्ञा का पालन करने को कहा लेकिन किसी को यह दुष्ट कार्य करने का साहस नहीं हुआ। तब कुनाल स्वयं अपनी आँखों में शलाका आँजकर अंधा हो गया।'

इस प्रकार दोनों ही धर्मवालों के लेखों से यह बात साबित होती है कि युवराज कुनाल के अंधापे का खास कारण उसकी अपर माता का प्रपंच ही था।

पर एक बात यहाँ पर अवश्य विचारणीय है। वह यह कि बौद्धों के लेखानुसार कुनाल तक्षशिला का शासक था और वहीं वह अंधा हुआ, परंतु जैन लेखों को देखते वह तक्षशिला का नहीं पर उज्जयिनी (अवन्ति) का शासक था, और उज्जयिनी में ही उसकी आँखें गईं। यह एक असाधारण मतभेद मालूम होता है, पर वस्तुतः इसमें कुछ भी मतभेद नहीं है। बौद्धों की तक्षशिला और जैनों की अवंति वास्तव में भिन्न नगरी नहीं थी। 'तक्षशिला' शब्द बौद्धों ने अवंति के ही पर्यायार्थ में लिखा मालूम होता है। प्राचीन समय में तक्षशिला नाम अवंति का भी नामांतर था, यह बात वैजयंती कोश के निम्नलिखित वचन से भी सिद्ध होती है—

"अवंती स्यात्तक्षशिला।"

—वैजयंती, पृ० १२६।

६१ कुनाल अशोक का उत्तराधिकारी था, इसलिये कुनाल के पुत्र संप्रति को उसका उत्तराधिकार मिलना कठिन नहीं था, फिर कुनाल उसे उत्तराधिकार दिलाने के लिये यह तरकीब क्यों सोचता है? यह शंका यहाँ पर अवश्य हो सकती है और इसका परिहार यों हो सकता है कि, कुनाल के अंधा होने के बाद अशोक ने उज्जयिनी दूसरे राजकुमार को दे दी थी—यह बात कल्पचूर्णि में लिखी है। (परितप्पित्ता उज्जेणी अण्णस्स कुमारस्स दिण्णा।) इस प्रकार अन्य कुमार को प्रदत्त उज्जयिनी का अधिकार पीछे कुनाल के पुत्र को मिलना जरा कठिन था, इसलिये बुद्धिमान् कुनाल ने तरकीब से राजा को वचनबद्ध करके उज्जयिनी का अधिकार प्राप्त किया।

के यहाँ अपनी संगीत-कला का परिचय देता हुआ अशोक के दर-बार तक पहुँचता है। इस अंध गायक के गान से राजा खूब प्रसन्न होता है और सहसा बोल उठता है 'तुझे क्या दूँ ?'

राजा का वचन मुख से निकलते ही यवनिका के भीतर बैठा हुआ गायक कुनाल कहता है—

"पपुत्तो चंद्रगुत्तस्स, बिंदुसारस्स नत्तुओ।
असोगसिरिणो पुत्तो, अंधो जायइ कागिणिं॥"

राजा चौंककर पर्दा दूर करवाके कुनाल को गले लगाता है, और कागिणिमात्र माँगने का कारण पूछता है, जिसके उत्तर में मंत्री कहते हैं "राजपुत्रों की परिभाषा में काकिणी का अर्थ राज्य" है। कुनाल की माँग का तात्पर्य समझकर राजा उसे अंधदशा में राज्य माँगने का कारण पूछता है। तब कुनाल अशोक को पौत्रजन्म की बधाई सुनाता है। राजा उसी समय कुनाल के पुत्र को अपनी गोद में लेकर उसे उज्जयिनी का शासक और अपना उत्तराधिकारी युवराज बनाता है और उज्जयिनी भेज देता है[६२]।

---

६२ संप्रति को उज्जयिनी का अधिकार देने के संबंध में जैन लेखकों के दो तरह के लेख मिलते हैं। बृहत्कल्प चूर्णि, कल्पकिरणावली आदि में लिखा है कि जब कुनाल अशोक से मिला और अपने पुत्र संप्रति के लिये राज्य माँगा उसी समय अशोक ने संप्रति को राज्य दे दिया। देखो निम्न-लिखित उल्लेख—

"किं काहिसि अंधओ रज्जेणं, कुणालो भणति—मम पुत्तोत्थि संपती नाम कुमारो, दिन्नं रज्जं।"

—बृहत्कल्प चूर्णि २२।

"+ + तस्य सुतः कुणालस्तन्नंदनस्त्रिखंडभोक्ता संप्रतिनामा भूपति-रभूत्, स च जातमात्र एव पितामहदत्तराज्यः।"

—कल्पकिरणावली १६५।

निशीथ चूर्णि का विधान इससे भिन्न है। वहाँ संप्रति को कुमार-भुक्ति में उज्जयिनी देने का उल्लेख है। देखो नीचे की पंक्ति—

"उज्जेणी से कुमारभोत्ती दिण्णा।"

उज्जयिनी में रहता हुआ संप्रति अवंति के अतिरिक्त सारे दक्षिणापथ और काठियावाड़ को अपने वश में कर लेता है[६३]।

आचार्य आर्य सुहस्ती जीवंत स्वामी को वंदन करने के लिये उज्जयिनी में आते हैं। रथयात्रा में चलते हुए आचार्य को संप्रति देखता है और उनके मुकाम पर जाकर वह जैन श्रावक हो जाता है[६४]।

पर इन दोनों तरह के लेखों का तात्पर्यार्थ एक भी हो सकता है। कल्पचूर्णि के 'राज्य' शब्द का अर्थ 'यौवराज्य' कर लेने पर संगति हो जाती है कि संप्रति को बचपन में ही अपने राज्य का उत्तराधिकारी युवराज बनाकर अशोक ने अवंति प्रदेश उसे कुमारभुक्ति में दे दिया था।

६३ संप्रति ने काठियावाड़ और दक्षिणापथ को स्वाधीन किया ऐसा निशीथचूर्णि में लिखा है, देखो निम्नलिखित उल्लेख—

"तेण सुरट्ठविसयो अंधा दमिला य ओयविया।"

इसी विषय में कल्पचूर्णिकार का मत इस प्रकार का है—

"ताहे तेण संपइणा उज्जेणीआइं काउं दक्खिणावहो सव्वो तत्थ ठिण्ण वि अज्जावितो।"

काठियावाड़ और दक्षिणापथ को जीतने से संप्रति के संबंध में यह अनुमान हो सकता है कि पश्चिम और दक्षिण हिंदुस्थान में उसने युवराज अवस्था में ही अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर दी होगी। अशोक के मरण के बाद वह मगध के राजसिंहासन पर अभिषिक्त हुआ था यह बात भी बौद्ध-ग्रंथों से जानी जाती है, पर आखिर तक पूरे हिंदुस्थान में संप्रति की सत्ता कहाँ तक रही यह निश्चित नहीं कह सकते। पूर्वीय प्रदेश से जो दशरथ मौर्य के शिलालेख मिले हैं उनसे यह भी ध्वनित होता है कि 'देवानां प्रिय के बाद मौर्य दशरथ का राज्याभिषेक हुआ था'। यदि 'देवानां प्रिय' केवल अशोक का ही विरुद है तो इससे यह मानना पड़ेगा कि अशोक के बाद पूर्वीय हिंदुस्थान के कुछ प्रदेश पर अशोक के दूसरे पुत्र दशरथ का अधिकार था। आश्चर्य नहीं अंध अवस्था में कुनाल का अधिकार रह करके अशोक ने जिसे उज्जयिनी का राज्य दिया और संप्रति का जन्म होने पर उससे लेकर वापिस संप्रति को दिया वह अशोक का दूसरा पुत्र यही दशरथ हो।

६४ यद्यपि निशीथचूर्णि और उसके पीछे के ग्रंथों में रथयात्रा में जाते हुए आर्य सुहस्ती को देखकर संप्रति को जातिस्मरण ज्ञान होने और उसी समय अवलोकन से नीचे उतरके आचार्य को गुरु धारण करने का उल्लेख

उपर्युक्त कथांश हमें स्पष्ट बताते हैं कि आर्य सुहस्ती और संप्रति का समागम तथा संप्रति का जैन धर्म स्वीकार करना ये सब बातें उज्जयिनी में उस समय की हैं जब संप्रति युवराजपद पर था।

बौद्ध और पौराणिक लेखों से यह बात तो निश्चित है कि संप्रति अशोक का उत्तराधिकारी था[६१] और अशोक की अंतिम बीमारी

है, तथापि कल्पचूर्णि के मत से आचार्य के मकान पर जाकर धर्म चर्चा कर संप्रति ने जैन धर्म को स्वीकार किया था। देखो कल्पचूर्णि का पाठ—

"इतो य अज्जसुहत्थी उज्जेणिं जियसामिं वंदओ आगओ रहाणुज्जाणे य हिंडंतो राउलंगणपदेसे रन्ना आलोयणगतेण दिट्ठो, ताहे रन्नो ईहपोहं करेंतस्स जातं (जाइस्सरणं जातं) तदा तेण मणुस्सा भणिता-पडिचरह आयरिए कहिं ठितत्ति तेहिं पडिचरिउं कहितं सिरिघरे ठिता। ताहे तत्थ गंतुं धम्मो सोण सुओ, पुच्छितं धम्मस्स किं फलं ?, भणितं अव्यक्तस्य तु सामाइयस्स राजाति फलं, सो संभंतो हाति (होति ?) सच्चं भणसि अहं भे कहिं चिदिट्ठेल्लओ, आयरिएहिं उवउज्जितं दिट्ठेल्लओ त्ति ताहे सो सावओ जाओ पंचाणुव्वयधारी तसजीवपडिक्कमओ पभावओ समणसंघस्स।"

अर्थात् 'इधर आर्य्य सुहस्ती जीवित स्वामी को वंदन करने के लिये उज्जयिनी को आए, और रथयात्रा में चलते हुए वे राजमहल के आँगन में आए। अवलोकन (झरोखे) में बैठे हुए राजा संप्रति को उन्हें देखते ही ईहापोहपूर्वक जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ, तब राजा ने अपने आदमियों को कहा—'तलाश करो, आचार्य कहाँ पर ठहरे हैं।' आदमियों ने पता लगाकर राजा से निवेदन किया कि आचार्य का मुकाम श्रीघर में है। राजा उनके पास गया और धर्मोपदेश सुनने के बाद उसने प्रश्न किया कि 'धर्म का फल क्या है ?' आचार्य ने कहा 'अव्यक्त सामायिक धर्म का फल राजपद-प्राप्ति आदि है' यह सुनकर राजा ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—सत्य कहते हो, महाराज ! आप मुझे पहिचानते हैं ? श्रुतज्ञान का उपयोग देकर आचार्य ने कहा—हाँ, तुम हमारे परिचित (पूर्व भव के शिष्य) हो। तब राजा श्रावक हो गया। वह पंचाणु-व्रतधारी त्रस जीवों की हिंसा का त्यागी और श्रमण-संघ की उन्नति करनेवाला श्रावक हो गया।'

६१ पुराणों में मौर्य राजाओं के नामों में बहुत गड़बड़ है। अशोक मौर्य वंश का तीसरा राजा है, यह बात तो प्रायः सब पुराणों से निर्विवाद सिद्ध है, पर अशोक के बाद के राजाओं का क्रम और नाम दोनों ठीक नहीं मिलते। विष्णुपुराण और भागवत में अशोक के उत्तराधिकारी का नाम

के समय में वह पाटलिपुत्र में था तथा अशोक की मृत्यु के बाद पाटलिपुत्र के राज्यसिंहासन पर उसका राज्याभिषेक हुआ था[११]।

'सुयशा' है, तब उसी स्थान पर वायुपुराण में 'कुनाल' और ब्रह्मांडपुराण में 'कुशाल' ये नाम उपलब्ध होते हैं। इन सुयशा, कुनाल या कुशाल के पीछे विष्णुपुराण में 'दशरथ' का नाम है तथा वायु और ब्रह्मांड में 'बंधुपालित' नाम मिलता है। भागवतकार इसी स्थान में 'संगत' यह नाम लिखते हैं, और मत्स्यपुराण में अशोक के पीछे इसके पोते 'सप्तति' (संप्रति) का राज्याधिकार लिखा है। मत्स्यपुराण का यह 'सप्तति' ही अशोक का पोता जैनों का 'संप्रति' है।

इस प्रकार मत्स्यपुराण में अशोक के पीछे उसके पोते 'संप्रति' का और उसके बाद दशरथ का राजा होना लिखा है, पर भागवत, ब्रह्मांड और वायुपुराण में 'दशरथ' का नाम ही नहीं है। वायु के कुनाल और ब्रह्माण्ड के कुशाल के बाद दोनों में 'बंधुपालित' का नाम है। विष्णुपुराण में सुयशा के पीछे दशरथ और उसके बाद 'संयुत' नाम लिखा है जो 'संप्रति' का ही विकृत रूप है। इन विकल्पों से एक बात निश्चित हो जाती है कि अशोक के पिछले मौर्य्य राजाओं की पुराणकारों को ठीक ठीक जानकारी नहीं थी। फिर भी मत्स्यपुराण—जो कि इस संबंध में सबसे प्रामाणिक माना गया है—अशोक के बाद उसके पोते 'संप्रति' के राजा होने और दश वर्ष तक राज्य करने का उल्लेख करता है। यह बात इस विषय के जैन इतिहास की सत्यता साबित करती है। पाठकगण के विलोकनार्थ हम मत्स्यपुराण के उस अंश को नीचे उद्धृत करते हैं—

"षट् त्रिंशत्तु समा राजा, भविताऽशोक एव च।
सप्तति(संपूति)र्दशवर्षाणि, तस्य नप्ता भविष्यति ॥ २३ ॥
राजा दशरथोऽष्टौ तु, तस्य पुत्रो भविष्यति।"

—मत्स्यपुराण अध्याय २७२।

६६ अशोक की बीमारी के समय उसका पोता युवराज संप्रति पाटलिपुत्र में था, और अशोक के मरण के बाद उसका वहीं राज्याभिषेक हुआ था, यह बात दिव्यावदान नामक बौद्ध ग्रंथ के २९ वें अवदान में दिए हुए निम्नलिखित वृत्तांत से सिद्ध होती है।

दिव्यावदान में लिखा है कि 'राजा अशोक को बौद्ध संघ को सौ करोड़ सुवर्ण का दान देने की इच्छा हुई, और उसने दान देना शुरू किया। ३६ वर्षों में उसने ९६ करोड़ सुवर्ण तो दे दिया पर अभी ४ करोड़ देना बाकी था, तब वह बीमार पड़ गया, जिंदगी का भरोसा न समझकर उसने चार करोड़ पूरा करने के लिये खजाने से कुक्कुटाराम में भिक्षुओं के लिये द्रव्य भेजना शुरू किया।'

उस समय अशोक के पुत्र कुणाल का पुत्र 'संपदी' नामक राजकुमार युवराज पद पर था। अशोक की दानप्रवृत्ति की बात संपदी को कहकर मंत्रियों ने कहा—राजन्! राजा अशोक थोड़ी देर का महमान है, वह जो द्रव्य कुक्कुटाराम भेज रहा है, उससे उसे रोकना चाहिए, क्योंकि खजाना ही राजाओं का बल है। मंत्रियों के कहने पर युवराज संपदी ने खजानची को धन देने से रोक दिया। इस पर अशोक अपने सुवर्णमय भोजन-पात्र ही कुक्कुटाराम को भेजने लगा, तब अशोक के भोजन के लिये क्रमशः रौप्य, लोह और मात्तिक पात्र भेजे गए, जिनका भी उसने दान कर दिया। उस समय राजा अशोक के हाथ में सिर्फ आधा आँवला बाकी रहा था। राजा बहुत विरक्त हुआ, मंत्रिगण और प्रजागण को इकट्ठा करके वह बोला—'बोलो इस समय पृथिवी में सत्ताधारी कौन है?' मंत्रियों ने कहा—'आप ही पृथिवी में ईश्वर-सत्ताधारी राजा हैं।' आँखों से आँसू बहाते हुए अशोक ने कहा—तुम दाक्षिण्य से झूठ क्यों बोलते हो?: हम तो राज्यभ्रष्ट हैं। इस समय हमारा प्रभुत्व मात्र इस अर्धामलक पर है। पास में खड़े आदमी को बुलाकर अशोक ने वह अर्धामलक उसे दिया और कहा—भद्र! मेरा यह थोड़ा सा काम कर, कुक्कुटाराम जाकर मेरे वन्दन के साथ यह अर्धामलक संघ को भेंट कर।

भिक्षु-संघ ने अशोक का वह आखिरी दान उसकी इच्छा के अनुसार यूप में मिला करके सारे संघ में बाँट दिया।

राजा ने अमात्य राधगुप्त को बुलाकर कहा—'बोल राधगुप्त! इस समय पृथिवी में ईश्वर कौन है?' विनय के साथ उत्तर देते हुए राधगुप्त ने कहा—'आप ही तो पृथिवी में ईश्वर हैं।' यह सुनकर अशोक किसी तरह उठा और चारों ओर नजर फिराकर संघ को नमस्कार कर बोला—'महाकोश को छोड़कर इस समुद्रपर्यंत महापृथिवी को संघ के लिये अर्पण करता हूँ' इस प्रकार पृथिवी का दान करके राजा कालशरण हो गया। अमात्यों ने जलसे के साथ अशोक के शरीर का अग्निसंस्कार किया और वे मगध के सिंहासन पर संपदी को बिठाने की तैयारी करने लगे, तब राधगुप्त ने कहा—चार करोड़ सुवर्ण के बदले यह पृथिवी अशोक ने संघ को दान कर दी है, इस वास्ते जब तक संघ से यह पृथिवी छोड़ाई नहीं जाती, तब तक इस पर दूसरा राजा नहीं हो सकता। अमात्यों के पूछने पर उसने बताया कि क्यों अशोक ने संघ को पृथिवी दी। तब अमात्यों ने भगवच्छासन में ४ करोड़ सुवर्ण देकर पृथिवी को छुड़ाया और बाद में संपदी का राज्याभिषेक किया।

पाठकगण के दर्शनार्थ हम दिव्यावदान के उन अंशों को यहाँ उद्धृत करेंगे जिनका कि सार-भाग ऊपर लिखा है।

"अपिच राधगुप्त, अयं मे मनोरथो बभूव कोटीशतं भगवच्छासने दानं दास्यामीति, स च मेऽभिप्रायो न परिपूर्णः। ततो राज्ञाऽशोकेन चत्वारः कोटयः परिपूरयिष्यामीति हिरण्यसुवर्णं कुक्कुटारामं प्रेषयितुमारब्धः।

तस्मिंश्च समये कुनालस्य संपदी नाम पुत्रो युवराज्ये प्रवर्त्तते। तस्यामात्यैरभिहितं—कुमार! अशोको राजा स्वल्पकालावस्थायी इदं च द्रव्यं कुक्कुटारामं प्रेषयते कोशबलिनश्च राजानो निवारयितव्यः। यावत् कुमारेण भांडागारिकः प्रतिषिद्धः। यदा राज्ञोऽशोकस्याप्रतिषिद्धाः (?) तस्य सुवर्णभाजने आहारमुपनाम्यते, भुक्त्वा तानि सुवर्णभाजनानि कुक्कुटारामं प्रेषयति। तस्य सुवर्णभाजने प्रतिषिद्धे रूप्यभाजने आहारमुपनाम्यते, तान्यपि कुक्कुटारामं प्रेषयति। ततो रूप्यभाजनमपि प्रतिषिद्धं यावल्लोहभाजन आहारमुपनाम्यते। तान्यपि राजा अशोकः कुक्कुटारामं प्रेषयति। तस्य यावन्मृद्भाजन आहारमुपनाम्यते। तस्मिंश्च समये राज्ञोऽशोकस्यार्द्धामलकं करांतर्गतम्। अथ राजाऽशोकः संविग्नोऽमात्यान् पौरांश्च संनिपात्य कथयति कः साम्प्रतं पृथिव्यामीश्वरः। ततोऽमात्य उत्थायाऽऽसनाद् येन राजाशोकस्तेनांजलिं प्रणम्योवाच—देवः पृथिव्यामीश्वरः। अथ राजाऽशोकः साश्रुदुर्दिननयनवदनोऽमात्यानुवाच—

> दाक्षिण्यात् अनृतं हि किं कथयथ, भ्रष्टाधिराज्या वयम्,
>
> शेषं त्वामलकार्धमित्यवसितं यत्र प्रभुत्वं मम।
>
> ऐश्वर्यं धिगनार्यमुद्धतनदीतोयप्रवेशोपमम्,
>
> मर्त्येन्द्रस्य ममापि यत् प्रतिभयं दारिद्र्यमभ्यागतम् ॥१॥

× × × × × ×

ततो राजाऽशोकः समीपगतं पुरुषमाहूयोवाच—भद्रमुख! पूर्वगुणानुरागाद् भ्रष्टैश्वर्यस्यापि मम इमं तावदपश्चिमं व्यापारं कुरु—इदं ममार्धामलकं प्रहाय कुक्कुटारामं गत्वा संघे निर्यातय, मद्वचनाच्च संघस्य पादाभिवन्दनं कृत्वा वक्तव्यं जम्बूद्वीपैश्वर्यस्य राज्ञ एष सांप्रतं विभव इति। इदं तावद् अपश्चिमं दानं तथा प्रति भोक्तव्यं यथा मे संघगता दक्षिणा विस्तीर्णा स्यादिति।

× × × × × ×

यावत्तदर्धामलकं चूर्णयित्वा यूषे प्रक्षिप्य संघे चारितम्। ततो राजाऽशोको राधगुप्तमुवाच—कथय राधगुप्त! कः साम्प्रतं पृथिव्यामीश्वरः। अथ राधगुप्तोऽशोकस्य पादयोर्निपत्य कृताञ्जलिरुवाच—देवः पृथिव्यामीश्वरः। अथ राजाऽशोकः कथञ्चिदुत्थाय चतुर्दिशमवलोक्य संघायाञ्जलिं कृत्वा 'एष इदानीं महत्कोशं स्थापयित्वा इमां समुद्रपर्यन्तां महापृथिवीं भगवच्छ्रावकसंघे निर्यातयामि।'

यदि आर्य सुहस्ती के समय में संप्रति सम्राट् होता तो जैन लेखक उसे पाटलिपुत्र का राजा लिखकर उज्जयिनी का राजा अथवा युवराज नहीं लिखते। इससे हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि जिस समय संप्रति को आर्य सुहस्ती ने जैन बनाया उस समय वह युवराज पद पर स्थित होकर अवंति का शासक था, इसलिये सुहस्ती और संप्रति की समकालीनता में कोई असंगति नहीं है।

यावत्पत्राभिलिखितं कृत्वा दत्त (-दन्त) मुद्रया मुद्रितम्। ततो राजा महापृथिवीं सर्वे दत्त्वा कालगतः। यावदमात्यैर्नीलपीताभिः शिविकाभिर्निर्हृत्वा शरीरपूजां कृत्वा राजानं प्रतिष्ठापयिष्याम इति यावद् राधगुप्तेनाभिहितं राज्ञाऽशोकेन महापृथिवी संघे निर्यातिता इति। ततोऽमात्यैरभिहितं किमर्थमिति, राधगुप्त उवाच—एष राज्ञोऽशोकस्य मनोरथो बभूव कोटिशतं भगवच्छासने दानं दास्यामीति तेन षण्णवतिकोट्यो दत्ता यावद् राज्ञा प्रतिषिद्धाः, तदभिप्रायेण राज्ञा पृथिवी संघे दत्ता यावदमात्यैश्चतस्रः कोट्यो भगवच्छासने दत्त्वा पृथिवीं निष्क्रीय संपदी राज्ये प्रतिष्ठापितः।"

—दिव्यावदान २९।

अवदानकल्पलता के ७४ वें पल्लव में क्षेमेन्द्र ने भी संपदी को अशोक का पौत्र और उत्तराधिकारी लिखा है। देखो नीचे का उल्लेख—

"तत्पौत्रः संपदी नाम, लोभान्धस्तस्य शासनम्।
दानपुण्यप्रवृत्तस्य, कोशाध्यक्षैरवारयत् ॥ ८ ॥
दाने निषिद्धे पौत्रेण, संघाय पृथिवीपतिः।
भैषज्यामलकस्यार्धं, ददौ सर्वस्वतां गतम् ॥ ९ ॥
धीमतः सम्मतेनाथ, राधगुप्तस्य मन्त्रिणः।
ददौ संघाय निखिलां, पृथिवीं पृथिवीपतिः ॥ १० ॥
गङ्गाम्बुभाररुचिरां चतुरम्बुराशि-
वेलाविलासवसनां मलयावतंसाम्।
दत्त्वाऽखिलां वसुमतीं स समाससाद,
पुण्यं प्रमाणकलनारहितं हिताय ॥ ११ ॥
प्रख्यातषण्णवतिकोटिसुवर्णदाने,
याते दिवं नरपतावथ तस्य पौत्रः।
शेषेण मन्त्रिवचसा क्षितिमाजहार,
स्पष्टं क्रयी कनककोटिचतुष्टयेन ॥ १२ ॥"

—बोधिसत्त्वावदानकल्पलता प० ७४ पृ० ६१७ ॥

संप्रति के राज्य में आर्य महागिरि की विद्यमानता के उल्लेख

उपर्युक्त विवेचन से आर्य सुहस्ती और संप्रति के समय की संगति करने में तो हम लगभग सफल-प्रयत्न हो सकते हैं; पर अब भी एक विकट समस्या हमारे सामने खड़ी है, कि जिसकी चर्चा किए बिना हम आगे नहीं बढ़ सकते।

पूर्वोक्त निशीथादि सूत्रों के भाष्यों और चूर्णिकारों ने जैन श्रमणों में असांभोगिकता-व्यवहार की उत्पत्ति कैसे हुई इसका वर्णन करते हुए लिखा है कि 'औदरिक मृत्यु को याद करते हुए राजा ने नगर के चारों दरवाजों पर रसोड़े बनवा रखे थे, जहाँ पर वह बाहर भीतर जाता आता भोजन किया करता था। ऐसा किसी का कथन है, पर हम कहते हैं कि वे 'सत्र' थे और जाते आते लोग उसमें भोजन पाते थे। लोगों के भोजन कर लेने के बाद उन रसोड़ों में जो भोज्य पदार्थ बचते उनके मालिक रसोइए ठहराए गए थे, और राजा ने रसोइयों को कह रखा था कि जो तुम्हारे भाग में भोज्य पेय पदार्थ आवें उन्हें तुम साधुओं को दिया करो और उनकी जो कीमत हो, राजभंडार से ले लिया करो। सिर्फ रसोइयों को ही नहीं, कंदोइ, तेली, घीया, दोसी आदि सब व्यापारियों को अपनी अपनी चीजें साधुओं को देने और उनकी कीमत के दाम राजखजाने से लेने के लिये राजा ने आज्ञा दे रखी थी। इस राज-संकेत के कारण साधुओं को बड़ी सुलभता से भिक्षा मिलने लगी। आर्य महागिरिजी को इस भिक्षा-सुगमता के विषय में शंका उत्पन्न हुई और आर्य सुहस्ती को चेताते हुए उन्होंने कहा—आर्य! आहारोपधि प्राप्ति में कुछ अपूर्वता दीखती है; जाँच करो, कहीं राजाज्ञा का तो परिणाम न हो? आर्य सुहस्ती ने कुछ भी जाँच न करके कह दिया—इसमें और कारण क्या हो सकता है? राजा की ओर से सत्कार देखकर "यथा राजा तथा प्रजा" इस न्याय से प्रजा भी हमारी भक्ति करती है। पर आर्य सुहस्ती की यह बात महागिरिजी को अच्छी न लगी। वे नाराज होकर बोले—'आर्य, तू ऐसा

समझदार होकर शिष्यों के राग से राजपिंड का सेवन करता है, तो बस आज से मैं तेरे साथ भोजनादि व्यवहार करना बंद करता[६७] हूँ।' अब आर्य महागिरि उनसे जुदा हो गए। पर बाद में राजपिंड न लेने की आर्य सुहस्ती की प्रतिज्ञा पर महागिरिजी ने फिर उनसे संबंध जोड़ लिया।'[६८]

उक्त कथानक से यह ज्ञात होता है कि जिस समय संप्रति उज्जयिनी का राजा था, उस समय आर्य महागिरि आचार्य जीवित थे।

परन्तु, ऊपर कहा गया है कि संप्रति का राज्याभिषेक निर्वाण से २६५ में आता है और युगप्रधान-पट्टावली के अनुसार आर्य महागिरिजी का स्वर्गवास निर्वाण संवत् २४५ में ही हो जाता है, जिस समय शायद संप्रति का जन्म भी नहीं हुआ होगा। तब संप्रति द्वारा साधुओं की भिक्षासुलभता और उसके निमित्त आर्य सुहस्ती से आर्य महागिरि का जुदा होना कैसे संभव है?

६७ इस परंपरा के प्रतिपादक कल्पचूर्णि के शब्द इस प्रकार हैं—

"ताए (हे) दारत्ति (ट्टि) एण रन्ना ओदरियमृत्यु स्मरता चउसु वि णगरदारेसु महाणसा कारावित्ता, तेसु सो राया कज्जेसु सुणंतो (णिंतो) अइंतो य भुंजइ, केइ एवं भणंति, वयं पुण एवं भणामो—ताणि सत्राणि, तेसु णिंतो अइंतो लोगो भुंजति। पुच्छति राया दिणे दिणे सूवगारे पुच्छति केवइयं सेसं भुत्तं लोगेणं हं च सूवगाराणं आभवति, ताहे राया ते सूवगारे भणति—साधुणं देवगाहा कंठा। ण केवलं सूवगारा भणति एमेव तेल्लि गाहा कंठा। पणित्ति महल्लावणा, विपणित्ति दारिद्दावणा, एवं दाणे पुच्छाय महागिरिणो त्ति। महागिरिणा अज्जसुहत्थी पुच्छितो अज्जो! पवरो आहारोवधी, जाणेज्जासि मा रन्ना लोगो पवुत्तओ होज्जा ताहे अज्ज सुहत्थिणा अणवेसित्ता चेव भणितं—अम्हं राया सम्मत्तं करेति तेण अणुराया जणो लोइयधम्ममणु यत्तमाणो देति। संभोइ त्ति। ताहे अज्जमहागिरिणा अज्जसुहत्थी भणितो अज्जो! तुमं नाम एरिसो एवं भणासि। तत्ति संभोगपच्छद्दं कठं।

—बृहत्कल्पचूर्णि उ० १ प० १३९।

६८ देखो निशीथ चूर्णि की निम्नलिखित पंक्ति—

"ततो अज्ज सुहत्थी पच्चाउट्टो मिच्छामि दुक्कडं करोति। 'ण पुणो गेण्हामो' एवं भणिए संभुत्तो।"

—निशीथ चूर्णि उ० ८ प० १६१।

प्रश्न अवश्य विचारणीय है और इस समस्या को हल करने के लिये हमें इन तीन उपायों में से किसी एक को स्वीकृत करना होगा—

(१) संप्रति के राजत्वकाल को आर्य महागिरि के स्वर्गसमय (२४५) के आसपास रखना।

(२) आर्य महागिरि के स्वर्गसमय को संप्रति के राजत्वकाल (२९५) के नजदीक ले जाना, अथवा

(३) आर्य महागिरि ने संप्रति का राज्य देखा ही नहीं यह मान लेना।

इनमें से पहली बात मान लेने का अर्थ होगा निर्वाण और शक संवत्सर का अंतर बतानेवाली प्राचीन और व्यवस्थित गणना-पद्धति को ठुकराकर एक निराधार कल्पना को जन्म देना—कि जिसके परिणाम-स्वरूप गर्दभिल्ल और बलमित्र भानुमित्र संबंधी कालकाचार्यवाली सब घटनाएँ बिल्कुल असंगत हो जायँगी, जिनका कि ४५३ के निकट होना युगप्रधानत्व कालगणना-पद्धति से भी प्रमाणित होता है। इसलिये प्रथम उपाय हमारे लिये किसी काम का नहीं है।

दूसरे उपाय के औचित्य में भी हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। यद्यपि पट्टावलियों और स्थविरावलियों से जुदा पड़कर मैं आर्य महागिरिजी का स्वर्गवास निर्वाण संवत् २६१ में मानता हूँ पर इससे भी संप्रति के राज्य के साथ इनका संबंध नहीं जुड़ सकता, इसलिये अब यह तीसरा उपाय ही हमारे लिये स्वीकार्य कल्पना है कि 'आर्य महागिरिजी ने संप्रति का राज्य देखा ही न था।'

यद्यपि पूर्वोक्त संप्रति के राज्यकाल में असांभोगिकता का प्रारंभ होना लिखा है, पर मेरी समझ में यह घटना संप्रति के समय की नहीं है, पर पिछले लेखकों ने इसको संप्रति-चरित्र के साथ जोड़ दिया है। मेरी इस मान्यता के कारण ये हैं—

१—जहाँ जहाँ उक्त घटना का वर्णन है, वहाँ सर्वत्र विधेयता 'असांभोगिकता' की है; न कि संप्रति के चरितांश की।

२—उक्त कथांश में कहीं भी संप्रति का स्पष्ट नामोल्लेख न होकर केवल अनुवृत्ति से उसका बोध किया जाता है।

३—कल्पचूर्णि के लेख से स्पष्ट है कि आर्य सुहस्तीजी जीवित स्वामी को वन्दन करने के लिये उज्जयिनी में आए; उसके बाद संप्रति जैन हुआ था।

निशीथ चूर्णि का भी यही भावार्थ है कि विदिशा में जीवत्स्वामि को वन्दन करने के लिये आर्य सुहस्ती गए। उसके बाद संप्रति को सुहस्ती का समागम हुआ और आचार्य के उपदेश से वह जैन हुआ।[६]

---

६६ कल्प चूर्णि और आवश्यकचूर्णि के लेखों से स्पष्ट है कि संप्रति को आर्य्य सुहस्ती का समागम उज्जयिनी में हुआ और वहीं उसे प्रतिबोध हुआ था, पर निशीथ चूर्णि का उल्लेख कुछ और ही बात की सूचना करता है। इस उल्लेख के शब्द यह सूचना देते हैं कि 'अन्य दिन आचार्य्य विदिशा में जीवितस्वामि की प्रतिमा के वन्दन करने को गए, वहाँ रथयात्रा निकली। राजा का मकान रथ के मार्ग पर ही था। रथ राजमहल के पास पहुँचा। गवाक्ष में बैठे हुए राजा संप्रति ने यात्रा में चलते हुए आर्य्य सुहस्ती को देखा, और देखते ही उसे पूर्वभव का ज्ञान हो गया। तुरंत महल से उतरकर राजा नीचे आया और आचार्य्य के पैरों में पड़कर उसने प्रश्न किया, 'भगवन्, आप मुझे जानते हैं?' आचार्य्य ने तनिक ध्यान लगाकर सोचा और वे बोले—हाँ, मैं जानता हूँ, तू मेरा पूर्वभव का शिष्य है।

विदिशा में संप्रति के जैन होने की सूचना करनेवाली यह नूतन परंपरा है, पर इसमें असंभव या आश्चर्य मानने का भी कोई कारण नहीं है, क्योंकि विदिशा भी उस समय की एक प्रसिद्ध नगरी थी। उसके अवन्ती के अधिकार में होने से वहाँ राजा का मकान और संप्रति का निवास होना भी स्वाभाविक है। विदिशा में रथावर्त नामक एक अतिप्रसिद्ध जैन-तीर्थ था और वहाँ जीवंत-स्वामि की प्रतिमा भी थी ऐसा जैनसूत्रों से सिद्ध होता है। इस दशा में यदि यह मान लिया जाय कि संप्रति का प्रतिबोध विदिशा में हुआ तो कोई हानि नहीं है।

उक्त घटना के प्रतिपादक निशीथ चूर्णि के मूल शब्द नीचे दिए जाते हैं—

"अण्णया आयरिया वतीदिसं जियपडिमं वंदिया गता। तत्थ रहाणुज्जाते रण्णो घरं रहोवरि अंचति। संपतिरण्णा ओलोयणगएण अज्जसुहत्थी दिट्ठो। जातीसरणं जातं। आगच्छो पाएसु पडिओ पच्चुट्ठिओ विणओणओ

अब इसी विषय में आवश्यक चूर्णिकार का मत सुन लीजिए। वे लिखते हैं—

"× × × दो वि जणा वतिदिसं गया, तत्थ जियपडिमं वंदित्ता अज्जमहागिरी एलकच्छं गया गयग्गपदवंदया, तस्स एलकच्छं नामं ? तं पुव्वं दसण्णपुरनगर मासी × × × ताहे दसण्णपुरस्स एलगच्छं नामं जायं। तत्थ गयग्गपयो पव्वओ। × × तत्थ महागिरी भत्तं पच्चक्खाय देवत्तं गया। सुहत्थी वि उज्जेणिं जिय-पडिमं वंदया गया।"

'अर्थात् (पाटलिपुत्र से) विहार कर दोनों (आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती) विदिशा (आजकल का भिलसा) गए और वहाँ जीवित प्रतिमा को वन्दन कर आर्य महागिरि एडकाच्छ (दशार्णपुर) के गजाग्रपद तीर्थ की वन्दना करने गए और वहाँ (गजाग्रपद तीर्थ) पर अनशन करके वे स्वर्गवासी हुए और आर्य सुहस्ती विदिशा से उज्जयिनी में जीवितप्रतिमा को वन्दन करने को गए।'

आवश्यक सूत्र के उपर्युक्त लेख से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विदिशा से आर्य महागिरि गजाग्रपद पर जाके स्वर्गवासी हो गए। उसके बाद आर्य सुहस्ती उज्जयिनी में जीवितस्वामी को वन्दन करने को आए थे और उसके बाद उन्होंने संप्रति को जैन बनाया। इस अवस्था में संप्रति के संकेत से साधुओं को राजपिंड का मिलना और उसके निमित्त आर्य सुहस्ती से आर्य महागिरि का जुदा होना यह बात सत्य नहीं हो सकती।

संभव है कि आर्य महागिरि और सुहस्ती के समय के दुर्भिक्ष में राजा बिंदुसार ने अपनी राजधानी में दानशालाएँ खोली होंगी जिनसे कि साधु ब्राह्मणादि को भोजन मिलता रहे। उस

भणति—भगवं अहं ते कहिं दिट्ठो ? सुमरह। आयरिया उवउत्ता—आमं दिट्ठो, तुमं मम सीसो आसी। पुव्वभवो कहितो। आउट्टो, धम्मं पडिवण्णो। अतीव परोप्परं णेहो जातो।"

—निशीथ चूर्णि ११३।

समय का युवराज अशोक उज्जयिनी का शासक होगा और उसने भी राजा का अनुसरण करके वहाँ दानशालायें बनवाई होंगी, जैसा कि बौद्ध उल्लेखों से सूचित होता है [७०]। परन्तु जैन श्रमण अपने आचार के विरुद्ध समझ उन राजकीय दानशालाओं से आहार पानी नहीं लेते होंगे, जिससे गुप्त राजसंकेत से रसोइयों और व्यापारियों की मार्फत जैन साधुओं को आहार वस्त्रादि पहुँचने लगा होगा। महागिरिजी को इस अस्वाभाविक भक्ति के विषय में शंका उत्पन्न हो गई होगी जिससे उन्होंने सुहस्ती से संबंध तोड़ दिया होगा।

इस घटना के वर्णन में दान-प्रवर्तक राजा के संबंध में आए हुए "ओदरियमृत्युं स्मरता" ये शब्द और आर्य महागिरि के मुख से निकलते "अज्जो! इमं अपुव्वं दीसइ" ये शब्द ही उस समय की विषमता के द्योतक हैं। अच्छे समय की यह घटना होती तो दानगृह खोलनेवाले को "औदरिक मृत्यु" (दुर्भिक्षकृत मृत्यु) का स्मरण करने और आर्य सुहस्ती जैसे राजप्रतिबोधक युगप्रधान के शिष्यों को योग्य आहारोपधि की प्राप्ति में आर्य महागिरिजी को अपूर्वता दीखने का कोई कारण नहीं था।

मेरे खयाल से तो यह 'असंभोगिकता' वाली कथा उस दुष्काल के समय की कल्पना है जब कि संप्रति के जीव ने द्रमक के भव में आर्य सुहस्ती के समीप 'कासंबाहार' में जैन दीक्षा ली थी। पर पिछले लेखकों ने बिंदुसार की इस दुष्काल-प्रतिक्रिया को संप्रति की शासन-प्रभावना का अंग मान लिया।

---

७० बौद्धों के महावंश के ५ वें परिच्छेद के २६ वें श्लोक में कहा है कि 'अशोक का पिता राजा बिंदुसार नित्य ६०००० (साठ हजार) ब्राह्मणों को भोजन कराता था। उसी प्रकार अशोक भी तीन वर्ष तक ब्रह्मभोज कराता रहा।' देखो महावंश का वह श्लोक—

"पिता सट्ठिसहस्सानि, ब्राह्मणे ब्रह्मपक्खिके।
भोजेसि सो पिते येव, तीणि वस्सानि भोजयि ॥ २३ ॥
—महावंश प० ५।

भूल अवश्य हुई, पर इसके होने में आश्चर्य नहीं है। लेखकों की दृष्टि के आगे संप्रति ही घूम रहा था और उनके मन में संप्रति के शुभ कार्मों की ही स्मृति थी। इस दशा में बिंदुसार के एकाध कार्य का संप्रति के कार्मों में मिल जाने में आश्चर्य क्या हो सकता है?

ऊपर के विवेचनों में हमने दोनों जैन गणनाओं की पारस्परिक संमतता सिद्ध करने की चेष्टा की है। इसकी सफलता के संबंध में कुछ भी कहना हमारे अधिकार के बाहर की बात है। फिर भी यह कहना अनुचित नहीं होगा कि पूर्वोक्त जैन गणनाओं में कुछ भी विरोध या पारस्परिक असंगति नहीं है।

वाचनांतर का मतभेद

पूर्वोक्त गणनापद्धतियों से यह तो निश्चित है कि शक संवत्सर के प्रारंभ तक वीर निर्वाण की संवत्सरगणना में किसी तरह का मतभेद नहीं था, पर बाद में भिन्न भिन्न वाचनाओं के कारण निर्वाण संवत्सर-गणना में कुछ मतभेद अवश्य हो गया था कि जिसका उल्लेख देवर्द्धि-गणि क्षमाश्रमण ने कल्पसूत्रांतर्गत वीरचरित्र के अंत में—

'वायणंतरे पुण अयं तेणउए संवच्छरे काले गच्छइ इइ दीसइ''
—इस सूत्र में किया है।

इस वाचनाविषयक मतभेद को समझने के लिये पहले हमें वाचनाओं का इतिहास समझ लेना बहुत जरूरी है।

वाचना

वाचना का सामान्य अर्थ है "पढ़ाना"। आचार्य अपने शिष्यों को जो सूत्र और अर्थ पढ़ाते हैं उसे जैनपरिभाषा में "वाचना" कहते हैं। प्रत्येक श्रुतधर आचार्य अपने शिष्यों को वाचना देते हैं और वह वाचना उन्हीं आचार्य की कही जाती है। ऐसी वाचनाएँ महावीर की परंपरा में सैकड़ों हो गई हैं, पर उन सामान्य वाचनाओं के वर्णन का यह स्थल नहीं है। यहाँ पर तो उन्हीं विशेष वाचनाओं

का उल्लेख उपादेय है, जो जैन संघ में एक विशिष्ट घटना की भांति प्रसिद्ध हैं, और जिनसे हमारी प्रस्तुत कालगणना का घनिष्ठ संबंध है। ऐसी विशिष्ट वाचनाएं भगवान् महावीर के निर्वाण से एक हजार वर्ष के भीतर भीतर तीन हमारे जानने में आई हैं।

१—पाटलिपुत्री—स्थविर भद्रबाहुकालीन।

२—माथुरी—स्थविर स्कन्दिल कृत।

३—वालभी—वाचक नागार्जुन कृत।

पाटलिपुत्री की वाचना

यह वाचना वीरनिर्वाण सं १६० के आस पास नंद राजा के राजत्वकाल में सर्व जैनश्रमणसंघ के समक्ष पाटलिपुत्र नगर में हुई थी इस कारण से यह 'पाटलिपुत्री' कहलाती है।

इस वाचना के समय दुर्भिक्षवश छिन्न भिन्न हुए जैन प्रवचन के ग्यारह अंग फिर से व्यवस्थित किए गए और स्थविर भद्रबाहु के पास साधुओं को भेजकर बारहवां अंग दृष्टिवाद प्राप्त किया गया।

इस वाचना में शास्त्र मूलपाठ ही व्यवस्थित किया था या लिखा भी गया था इस बात का अभी तक निश्चय नहीं हुआ।

इस पाटलिपुत्री वाचना का हमारी प्रस्तुत गणना में विशेष उपयोग न होने पर भी यहां प्रसंगवश उल्लेख कर दिया है[७१]।

७१ पाटलिपुत्री वाचना का विस्तृत वर्णन तित्थोगाली पइन्नय, आवश्यक चूर्णि, परिशिष्ट पर्व आदि में उपलब्ध होता है। पाठकगण के ज्ञानार्थ हम तित्थोगाली की गाथाओं को सारांश के साथ देकर इस वाचना का स्पष्टीकरण करेंगे।

तित्थोगाली पइन्नय के कर्ता लिखते हैं—

भगवान् महावीर के बाद सातवें पुरुष चौदह पूर्वी भद्रबाहु हुए जिन्होंने बारह वर्ष तक योगमार्ग का अवलंबन किया और सूत्रार्थ की निबंधों के रूप में रचना की।

उस समय मध्यदेश में प्रबल 'अनावृष्टि' हुई। इस दुर्भिक्ष के कारण साधु वहां से दूसरे देशों में चले गए। कोई वैताढ्य पर्वत की गुफाओं में, कोई नदियों के तटों पर और कितनेक समुद्र के तट पर जाकर अपना निरवद्य जीवन

बिताने लगे। तब कतिपय साधुओं ने, जो विराधनाभीरु थे, अपनी खुशी से अन्न जल का त्याग कर दिया।

बहुत वर्षों के बाद जब सुभिक्ष हुआ तब परलोक जाते जाते जो बचे थे वे सब साधु फिर मगध देश में आ पहुँचे और चिरकाल से एक दूसरे को देखकर वे अपना नया अवतार ही मानने लगे।

तब वे साधु एक दूसरे को पूछने लगे कि किसको क्या याद है और क्या नहीं? इस प्रकार पूछते हुए उन्होंने ग्यारह अंग संकलित कर लिए, पर दृष्टिवाद अंग का जाननेवाला वहाँ कोई नहीं रहा। वे कहने लगे—पूर्वश्रुत के बगैर हम जिनप्रवचन का सार किस प्रकार धारण करेंगे? पर हाँ, श्रमण भद्रबाहु इस वक्त भी संपूर्ण चौदह पूर्व के जानकार हैं। उनके पास से हमें पूर्वश्रुत की प्राप्ति हो सकती है। परंतु वे इस वक्त बारह वर्ष का योग धारण किए हुए हैं, इस कारण से वाचना देंगे या नहीं यह संशय है। उसके बाद श्रमण संघ ने अपने दो प्रतिनिधि भद्रबाहु के पास भेजकर कहलाया कि 'हे पूज्य क्षमाश्रमण! आप वर्तमान समय में जिन-तुल्य हैं इसलिये पाटलिपुत्र में एकत्र हुआ 'महावीर का संघ' प्रार्थना करता है कि आप वर्तमान श्रमणगण को पूर्वश्रुत की वाचना दें।'

श्रमणसंघ के प्रमुख स्थविरों की प्रार्थना का उत्तर देते हुए भद्रबाहु ने कहा—'श्रमणो! मैं इस समय तुमको वाचना देने में असमर्थ हूँ, और आत्मिक कार्य में लगे हुए मुझे वाचना का प्रयोजन भी क्या है?'

भद्रबाहु के उत्तर से नाराज होकर स्थविरों ने कहा—क्षमाश्रमण! इस प्रयोजनाभाव से संघ की प्रार्थना का अनादर करते हुए तुम्हें क्या दंड मिलेगा इसका विचार करो।

भद्रबाहु ने कहा—'मैं जानता हूँ संघ इस प्रकार वचन बोलनेवाले का बहिष्कार कर सकता है।'

स्थविर बोले—तुम यह जानते हुए संघ की प्रार्थना का अनादर करते हो। अब कहिए हम तुमको संघ में शामिल कैसे रख सकते हैं? क्षमाश्रमण! हम तुमसे विनती करते हैं पर तुम वाचना देने के लिये तैयार नहीं हो. इसलिये श्रमणसंघ आज से तुम्हारे साथ बारहों प्रकार का व्यवहार बंद करता है।

भद्रबाहु यशस्वी पुरुष थे, वे अपयश से डरते थे। इससे जल्दी सँभलकर बोले—श्रमणो! एक शर्त पर मैं वाचना दे सकता हूँ। शर्त यह है कि 'न वाचना लेनेवाले मुझे बोलावें और न मैं उनको बोलाऊँ।' यदि यह शर्त हो सकती हो तो मैं कायोत्सर्गध्यान पूरा करने के बाद, भोजन के समय में और मकान से बाहर जाने आने के समय में वाचना दे सकूँगा।

भद्रबाहु की उक्त शर्त को मंजूर करते हुए श्रमणसंघ ने कहा—क्षमाश्रमण! जैसा ही आप कहेंगे, जैसी ही आपकी मरजी होगी वैसा ही हम करेंगे। इस विषय में आप कुछ भी विचार न करें।

इसके बाद बुद्धिशाली और ग्रहण-धारण में समर्थ ५०० साधु विद्यार्थी और प्रत्येक की वैयावृत्य-चाकरी के लिये दो दो दूसरे एवं १५०० साधु भद्र-बाहु के पास दृष्टिवाद के अध्ययन के निमित्त भेजे गए।

वे साधु भद्रबाहु के पास वाचना के लिये गए सही; परंतु वहाँ उन्हें अनु-कूलता नहीं थी। आचार्य के साथ बोलने की मुमानियत तो थी ही, पर इसके उपरांत उन्हें संतोषजनक वाचना भी नहीं मिलती थी। अमुक अमुक खास प्रसंगों में जब आचार्य उठते तब उनको वाचना मिलती थी; पर बुद्धिमानों को इससे संतोष नहीं होता था। इस कारण से वाचना-प्रतीक्षक धीरे धीरे वहाँ से चले गए, और जाते जाते केवल स्थूलभद्र मुनि पीछे रह गए। पद, आधा पद जो कुछ मिला उसे ही वे पढ़ते रहे पर भद्रबाहु का पीछा नहीं छोड़ा। इस प्रकार रहते हुए स्थूलभद्र को ८ वर्ष हुए तब उन्होंने आठ पूर्व का अध्ययन पूरा किया। अब भद्रबाहु की योगसाधना भी पूरी हो गई और उन्होंने पहले पहल स्थूलभद्र के साथ संभाषण करते हुए पूछा—'क्यों मुनि! तुझे भिक्षा और स्वाध्याय योग में कुछ तकलीफ तो नहीं है? स्थूलभद्र ने कहा—नहीं भगवन्! मुझे कोई तकलीफ नहीं है, पर मैं आपसे एक प्रश्न करता हूँ कि अब तक मैंने कितना सीखा और कितना शेष है? भद्रबाहु ने कहा—स्थूलभद्र! अभी तक तैंने सर्षप मात्र ग्रहण किया है और मेरु पर्वत शेष है। भद्रबाहु के इस वचन से स्थूलभद्र बिलकुल निरुत्साह नहीं होते हुए बोले—पूज्य! मैं अध्ययन से नहीं थका हूँ, पर सिर्फ एक विचार अवश्य मुझे चिन्तित बनाता है कि अपनी इस अल्प जिंदगी में यह मेरुतुल्य श्रुतज्ञान मैं कैसे प्राप्त कर सकूँगा?'

स्थूलभद्र का विचार सुनकर स्थविर भद्रबाहु ने कहा—वीर स्थूलभद्र! अब तू इस विषय में कुछ भी फिकर मत कर। अब मेरा ध्यान समाप्त हो गया है और तू बुद्धिमान् है, रात दिन मैं तुझे वाचना देता रहूँगा जिससे अब तू इस दृष्टिवाद का जल्दी ही पार पायगा।

स्थूलभद्र प्रयत्नपूर्वक अध्ययन करने लगे और उन्होंने दशपूर्व सांगोपांग सीख लिए।

एक दिन स्थूलभद्र एकांत स्थल में बैठकर ग्यारहवाँ पूर्व याद करते थे। उस समय उनकी ७ बहिनें भद्रबाहु के पास वंदनार्थ आईं और स्थूलभद्र को न देखकर उनके स्थान के संबंध में उन्होंने प्रश्न किया। भद्रबाहु ने स्थूलभद्र का स्थान

बताया और साध्वियाँ भाई के दर्शनार्थ उस तरफ चलीं। स्थूलभद्र ने अपनी शक्ति का परिचय साध्वियों को कराने के इरादे से निज रूप बदलकर सिंह का रूप धारण कर लिया। साध्वियाँ वहाँ पहुँचते ही सिंह को देखकर भयभीत होकर भद्रबाहु के पास लौट आईं और भयकातर स्वर से कहने लगीं—क्षमा-श्रमण! आपके निर्दिष्ट स्थान पर स्थूलभद्र तो नहीं पर एक विकराल सिंह बैठा हुआ है! न जाने स्थूलभद्र का क्या हुआ! भद्रबाहु ने कहा—आर्याओ! वह सिंह और कोई नहीं तुम्हारा भाई स्थूलभद्र ही है। आचार्य के वचन से वे फिर उस स्थान पर गईं तब उन्हें स्थूलभद्र का दर्शन हुआ। आश्चर्य का अनुभव करती हुईं साध्वियां उनको वंदन करके बोलीं—भाई! तुम्हें सिंह को देखकर हम बहुत ही भयभीत हो गई थीं। स्थूलभद्र ने उत्तर दिया—यह मैंने श्रुतज्ञान की ऋद्धि बताई है।

बहिनों को विदा करके स्थूलभद्र भद्रबाहु के निकट वाचना लेने को गए तब भद्रबाहु ने कहा—'हे अनगार! जो तैंने पढ़ा है वही बहुत है, अब तुझे पढ़ने की कोई जरूरत नहीं।' गुरु के इस वचन से स्थूलभद्र को अपनी भूल का खयाल आया। वे बहुत पछतावा करने लगे और गुरु के चरणों में वंदन करके अपने अपराध की माफी माँगते हुए कहने लगे—पूज्य क्षमाश्रमण! यह मेरी पहली ही भूल है, कृपया क्षमा कीजिए, यद्यपि बाकी के पूर्व अब स्वयं विच्छिन्न होने को हैं फिर भी भविष्य के महत्तर स्थविर कहेंगे कि 'स्थूल-भद्र ने श्रुतमद किया इससे शेष पूर्वों का नाश हुआ।'

अपने गच्छ के साधुओं ने भी हाथ जोड़कर भद्रबाहु से प्रार्थना की कि अब आप इनको वाचना देने की कृपा करें, ये फिर अपराध न करने की प्रतिज्ञा के साथ आपसे क्षमा माँगते हैं।

स्थूलभद्र और शेष श्रमणगण की प्रार्थना का उत्तर देते हुए भद्रबाहु ने कहा—श्रमणो! तुम अब इस विषय में ज्यादा आग्रह मत करो, मैं वाचना देने से इनकार क्यों करता हूँ इसका कारण सुनो। मैं स्थूलभद्र के अपराध के कारण से नहीं पर भविष्य का विचार करके शेष पूर्वों का प्रचार करना बंद करता हूँ। देखो, राजकुल जैसे शकटाल मंत्रि के खानदान में जन्मा हुआ स्थूल-भद्र जैसा गंभीर पुरुष जिसने बारह वर्ष की संगिनी कोशा के प्रेम का क्षण भर में त्याग कर दिया और नंद राजा से दिए जाते मंत्रि पद को ठुकराकर विरक्त-भाव से दीक्षा ग्रहण की, वह भी इस श्रुतज्ञान का दुरुपयोग करने में तत्पर हो गया तो दूसरों की बात ही क्या की जाय? श्रमणो! दिन दिन समय नाजुक आ रहा है, मनुष्यों की मानसिक शक्तियों का प्रति समय ह्रास हो रहा है, उनकी क्षमता और गंभीरता नष्ट होती जाती है। इस दशा में अब शेष

पूर्वों का प्रचार करने में मैं कुशल नहीं देखता। आचार्य्य का यह अन्तिम उत्तर सुनकर स्थूलभद्र दीनतापूर्वक कहने लगे—भगवन्, अब कभी पर-रूप नहीं बनाऊँगा। आप कहें उन शर्तों पर चलकर भी मैं चार पूर्व जानना चाहता हूँ।

अति आग्रह के वश होकर भद्रबाहु ने कहा—स्थूलभद्र! तू इतना आग्रह करता है तो तुझे ४ पूर्व बता दूँगा। पर उसकी अनुज्ञा (दूसरों को पढ़ाने की आज्ञा) नहीं दूँगा। तुझे अनुज्ञा मात्र दश पूर्वों की दूँगा, बाकी के चार पूर्व तेरे साथ ही नष्ट हुए समझ ले।

उक्त कारण से महावीर के पीछे आठवें पुरुष स्थूलभद्र के साथ चार पूर्वों का नाश हुआ।

पाटलिपुत्री वाचना के संबंध में जो जो मुख्य घटनाएँ घटी थीं उनका संक्षिप्त सार ऊपर लिख दिया है, इसी वस्तु का विस्तारपूर्वक वर्णन करने-वाली 'तित्थोगाली' की उन मूल गाथाओं को भी यहाँ अवतरित कर देते हैं, जिसमें प्राकृत भाषा के विद्वानों को इस विषय का मौलिक ग्रंथ देखने का भी सुभीता हो जाय।—

"सत्तमनो थिरबाहु जाणुयसीसमुपडिच्छिय सुबाहु।
नामेण भद्दबाहू अविही साधम्म सद्दोत्ति (?) ॥ ७१४ ॥
सो विय चोद्दस पुव्वी, बारसवासाइं जोगपडिवन्नो।
सुतत्थेणं निबंधइ, अत्थं अज्झयणबंधस्स ॥ ७१५ ॥
पलियं (धणियं) च अणावुट्ठी, तइया आसी य मज्झदेसस्स।
दुब्भिक्खविप्पणट्ठा, अण्णं विसयं गता साहू ॥ १६ ॥
कइवि विराहणाभीरुएहिं, अइभीरुएहिं कम्माणम्।
समणेहिं संकलिट्ठं, पच्चक्खायाई भत्ताइं ॥ १७ ॥
वेयट्ठकंदरासु य, नदीसु सेढीसमुद्दकूलेसु।
इहलोगअपडिबद्धा य, तत्थ जयणाए वट्टंति ॥ १८ ॥
ते आगया सुकाले, सग्गगमणसेसया ततो साहू।
बहुयाणं वासाणं, मगहाविसयं अणुप्पत्ता ॥ १९ ॥
ते दाइं एक्कमेक्कं, गयमयसेसा चिरं स दट्ठूणम्।
परलोगगमणपच्चागय व्व मण्णंति अप्पाणम् ॥ २० ॥
ते बिंति एक्कमेक्कं, सज्झाओ कस्स किसिओ धरति।
'दि हु उक्कालेणं अम्हं नट्ठो हु सज्झातो ॥ २१ ॥
जं जस्स धरइ कंठे, तं परियट्टिकण सव्वेसिम्।
तो णेहिं पिंडिताइं, तहियं एक्कारसंगाइम् ॥ २२ ॥

ते बिंति सव्वसारस्स, दिट्ठिवायस्स नत्थि पडिसारे ।
कह पुव्वगएण विणा य, पवयणसारं धरेहामो ॥ २३ ॥
समणस्स भद्दबाहुस्स, नवरि चौद्दसवि अपरिसेसाइं ।
पुव्वाइं अणत्थ य ज, न कहिं चिवि (०हिं वि) अत्थि पडिसारो॥२४॥
सो विय चौद्दसपुव्वी बारसवासाइं जोगपडिवन्नो ।
देज्ज न व देज्ज वा वायणंति वाहिप्पउ ताव ॥ २५ ॥
संघाडएण गंतूण, आणितो (यत्तो) समणसंघवयणेणं ।
सो संघथेरपमुहेहिं, गणसमुहेहिं आभट्ठो ॥ २६ ॥
तं अज्जकालियजिणो, वीरसंघो तं जायए सव्वो ।
पुव्वसुयकम्म (क्रम)धारय पुव्वाणं वायणं देहि ॥ २७ ॥
सो भणति एव भणिए, असिट्ठकिलिट्ठएण वयणेणं ।
न हु ता अहं समत्थो, इण्हिं मे वायणं दाउं ॥ २८ ॥
अप्पट्ठे आउत्तस्स, मज्झ किं वायणाए कायव्वं ।
एवं च भणिय मेत्ता, रोसस्स वसं गया साहू ॥ २९ ॥
अह विण्णविंति साहू, हंचेवसि (?) पाडिपुच्छणं अम्हं ।
एव भणंतस्स तुहं, को दंडो होइ तं मुणसु ॥ ३० ॥
सो भणति एव भणिए, अविसंना वीरवयणनियमेण ।
वज्जेयव्वो सुयनिन्हतो (निन्हवो) त्ति अह सव्वसाहूहिं ॥ ३१ ॥
तं एव जाणमाणो, नेच्छसि ने पाडिपुच्छयं दाउं ।
तं ठाणं पत्तं ते, कहं तं पासे ठवीहामो ॥ ३२ ॥
बारसविहसंभोगे, वज्जए तो तयं समणसंघो ।
जं ने जाइज्जंतो, नवि इच्छसि वायणं दाउं ॥ ३३ ॥
सो भणति एव भणिए, जसभरितो अयसभीरुतो धीरो ।
एक्केण कारणेणं, इच्छं भे वायणं दाउं ॥ ३४ ॥
अप्पट्ठे आउत्तो, परमट्ठे सुट्ठु दाइं उजुत्तो ।
नवि अहं वायरियव्वो, अहंपि नवि वाहरिस्सामि ॥ ३५ ॥
पारियकाउसग्गो, भत्तट्ठितो व अहव सेज्जाए ।
नितो व अइंतो वा, एवं मे वायणं दाहं ॥ ३६ ॥
बाढंति समणसंघो, अम्हे अणुयत्तिमो तुहं छंद ।
देहि य धम्मावादं तुम्हं छंदेण घेच्छामो ॥ ३७ ॥
जे आसी मेहावी, उज्जुत्ता गहणधारणसमत्था ।
ताणं पंचसयाइं, सिक्खगसाहूण गहियाइं ॥ ३८ ॥

वेयावच्चगरा से, एक्केक्कस्सेत्र उठ्ठिया दो दो ।
भिक्खंमि अपडिबद्धा, दिया य रत्तिं च सिक्खंति ॥ ३६ ॥
ते एग सेव साहू, वायणपरिपुच्छणाए परितंता ।
वाहारं अलहंता, तत्थ य जं किंचि असुणंता ॥ ४० ॥
उज्जुत्ता मे हावी, सद्धाए वायणं अलभमाणा ।
अह ते थोवा थोवा, सव्वे समणा विनिस्सरिया ॥ ४१ ॥
एक्को नवरि न मुंचति, सगडालकुलस्स जसकरो धीरो ।
नामेण थूलभद्दो, अविहींसाधम्मभद्दोत्ति ॥ ४२ ॥
सो नवरि अपरितंतो, पयमद्धपयं च तत्थ सिक्खंतो ।
अन्नेइ भद्दबाहुं, थिरबाहुं अट्ठवरिसाइं ॥ ४३ ॥
सुंदर अट्ठपयाइं, अट्ठहिं वासेहिं अट्ठमं पुव्वं ।
भिंवृत्ति अभिण्णहियतो, आमेलवं अह पवत्तो ॥ ४४ ॥
तस्स विदाइं समत्तो. तव नियमो एव भद्दबाहुस्स ।
सो पारितत्तवनियमो, वाहिरिउं जे अह पवत्तो ॥ ४५ ॥
अह भणइ भद्दबाहू, पढमं ता अट्ठमस्स वासस्स ।
अणगार न हु किलस्ससि, भिक्खे सज्झायजोगे य ॥ ४६ ॥
सो अट्ठमस्स वासस्स, तेण पढमिल्लुयं समाभट्ठो ।
कीस य परितंमीहं, धम्मावाए अहिज्जंतो ॥ ४७ ॥
एक्कंतो मे पुच्छं, केत्तियमेत्तंमि सिक्खितो होउज्जा ।
कत्तियमेत्तं च गयं, अट्ठहिं वासेहिं किं लद्धं ॥ ४८ ॥
मंदरगिरिस्स पासंमि, सरिसवं निक्खिवेज्ज जो पुरिसो ।
सरिसवमेत्तं ति गयं मंदरमेत्तं च ते सेसं ॥ ४९ ॥
सो भणइ एव भणिए, भीतो नवि ता अहं समत्थोमि ।
अप्पं च महं आउ, बहुसुयं मंदरो सेसो ॥ ५० ॥
मा भाहि नित्थरीहिसि. अप्पतरएण वीर कालेणं ।
मज्झ नियमो समत्तो, पुच्छाहि दिवा य रत्तिं च ॥ ५१ ॥
सो सिक्खउं पयत्तो, दट्ठत्थो सुट्ठु दिट्ठिवायंमि ।
पुव्वक्खतोवसमियं, पुव्वगतं पुव्वनिद्दिट्ठं ॥ ५२ ॥
संपत्ति (?) एक्कारसमं, पुव्वं अतिवयति वणदवो चेव ।
कंतिलओ भगिणीतो, सुट्ठुमणा वंदणनिमित्तं ॥ ५३ ॥
जरका य जक्खदिण्णा, भूआ तह हवति भूयदिण्णा य ।
सेणा वेणा रेणा, भगिणीतो थूलभद्दस्स ॥ ५४ ॥

एया सत्त अणीओ, बहुस्सुया नाणचरणसंपण्णा ।
सगडालणणि (भणि) याते, भाउं भवलोइउं एंति ॥ ५५ ॥
ते वंदिऊण पाएसु, भद्दबाहुस्स दीहबाहुस्स ।
पुच्छंति भाउओ णे, कत्थगतो थूलभद्दो त्ति ॥ ५६ ॥
अह भणइ भद्दबाहु, सो परियट्टेति सिवघरे अंते ।
वच्चह तहिं विदच्छिहह, सज्झायज्झाणउज्जुत्तं ॥ ५७ ॥
इयरो विय भइणीओ, दठ्ठूणं तत्थ थूलभद्दरिसी ।
चिंतिइ गारवयाए सुयइठ्ठिं ताव दाएमि ॥ ५८ ॥
सो धवलवसभमेत्तो, जातो विक्खिणकेसराजडालो ।
घणमुक्कससिसरिच्छो, कुंजरकुलभीसणो सीहो ॥ ५९ ॥
तं सीहं दट्ठूणं भीमाउ सिवघरा विनिस्सरिया ।
भणितो य एगहिं गुरू एत्थ हु सीहो अतिगतो त्ति ॥ ६० ॥
तत्थेत्थ कोइ सीहो, सो चेव य एस भाउओ तुब्भं ।
इड्ढीपत्तो जातो, सुयस्स इड्ढिं पयंसेइ ॥ ६१ ॥
तं वमणं सोऊणं, ताते अंचियतणुरुहसरीरा ।
संपत्तियाउ तत्तो, जत्तो सो थूलभद्दरिसी ॥ ६२ ॥
अह सागरो व्व उव्वेलमतिगतो पडिगतो सयं गणं ।
संपलियंकनिसंनो, धंमज्झाणं पुणो झाइ ॥ ६३ ॥
दुपुट्ठमहुरकंटं, सो परियट्टइ ताव पाढमयं ।
भणियं च नाहिं भाउग, सीहं दट्ठूण ते भीया ॥ ६४ ॥
सो विय पागडदंतं, दरवियसियकमलसच्छहं हसिउं ।
भणइ य गारवयाए, सुयइट्टी दरिसिया य मए ॥ ६५ ॥
तं वयणं, सोऊणं, ताते अंचियतणुरुहसरीरा ।
पुच्छंति पंजलियउडा, वागरणत्थे सुणियवणत्थे ॥ ६६ ॥
इयरो विय भणिणीओ, वीसज्जेऊण थूलभद्दरिसी ।
उचियंमि देशकाले, सज्झायमुवट्ठिओ काउं ॥ ६७ ॥
अह भणइ भद्दबाहु, अणगार अलाहि एत्तियं तुज्झं ।
परियट्टंतो अट्ठ (च्छ) सु, एत्तियमेत्तं वियत्तं मे ॥ ६८ ॥
अह भणइ थूलभद्दो, पच्छायावेण ताविसरीरो ।
इड्ढी गारवयाए, सुयविसयं जेण अवरद्धं ॥ ६९ ॥
नवि ताव मज्झ मणुं, जह मे ण समाणियाइं पुव्वाइं ।
अप्पा हु मए अवराहितो, त्ति पलियं खमे मण्णु ॥ ७० ॥

एतेहिं नासियव्वं, सएविणावि (?) जह सासणे भणियं ।
जं पुण मे अवरद्धं एयं पुण उहति सव्वंगं ॥ ७१ ॥
वोच्छंति य मयहरया, अणागता जेय संपती काले ।
गारवियथूलभद्दंमि, नाम नठ्ठाइं पुव्वाइं ॥ ७२ ॥
अह विण्णविंति साहू, सगच्छया करिय अंजलि सीसे ।
भद्दस्स ता पसियह, इमस्स एक्कावराहस्स ॥ ७३ ॥
रागेण व दोसेण व, जं च पमाएण किंचि अवरद्धं ।
तं भे सउत्तरगुणं, अपुणकारं खमावेंति ॥ ७४ ॥
अह सुरकरिकरउवमाणबाहुणा भद्दबाहुणा भणियं ।
मा गच्छह निव्वुंतं (?), कारणमेगं निसामेह ॥ ७५ ॥
रायकुलसरिसभूते, सगडालकुलम्मि एस संभूतो ।
दुहराउ चेव पुण्णो, निम्मातो सव्वसत्थेसु ॥ ७६ ॥
कोसा नामं गणिया, समिद्धकोसा य विउलकोसा व ।
जीए घरे उवरठ्ठो, रतिसंवेसं वियेसंमि ॥ ७७ ॥
बारस वासा य उत्थो, कोसाए घरंमि सिरघरसमंमि ।
सोऊण य पिउमरणं, रण्णो वयणं निगच्छी (?) ॥ ७८ ॥
तिगिच्छिसरिसवण्णं, कोसं आपुच्छिए तयं धणियं ।
खिप्पं सु एह सामिय, अहमं नहु वायरामेहं (?) ॥ ७९ ॥
भवणोरोह विमुक्को, छुज्झइ चंदो व सोमगंभीरो ।
परिमलसिरिं वहंतो, जोण्हानिवहं सर्सा चेव ॥ ८० ॥
भवणाउ निग्गओ सो, सारंगे परियणेण कढ्ढिंतो ।
मत्तवरवारणगओ, इह पत्तो राउलं दारं ॥ ८१ ॥
अंतेउरं अइगतो, निर्णायचिणओ परित्तसंसारो ।
काऊण य जयसद्दो, रन्नो पुरतो ठितो आसि ॥ ८२ ॥
अह भणइ नंदराया, मंतिपयं गिण्ह थूलभद्द महं ।
पडिवज्जसु तेवट्ठाइं, तिण्णि नगरागरसमाइं ॥ ८३ ॥
रायकुलसरिसभूए, सगडालकुलंमि तं सि संभूओ ।
सत्थेसु य निम्मातो, गिण्हसु पिउसंतियं एवं ॥ ८४ ॥
अह भणइ थूलभद्दो, गणियापरिमलसमप्पियसरीरो ।
सामी कयसामत्थो, पुणो अ भे विण्णवेसामि ॥ ८५ ॥
अह भणति नंदराया, केण समं दाइं तुज्झ सामत्थं ।
को अण्णो वरतरतो निम्मातो सव्वसत्थेसु ॥ ८६ ॥

कंबलरयणेण ततो, अप्पाणं सुट्ठु संवरित्ताणं ।
असूणि विण्हयंतो, असोगवणियं अह पविट्ठो ॥ ८७ ॥
जेत्तियमेत्तं दिण्णं, नेत्तियमेत्तं इमंमि भूतत्ति (?) ।
एत्तो नवरि पडामो, सोवू (सव्वे) मीणाइलघरंमि ॥ ८८ ॥
आणा रज्जं भोगा, रण्णो पासंमि आसणं पढमं ।
सव्वत्त इमं न खमं, खमं तु अप्पक्खमं काउं ॥ ८९ ॥
एसे परिचिंतंतो, रायकुलाओ य जे परिकिलेसे ।
नरएसु य जे केसे, ता लुंचति अप्पणा केसे ॥ ९० ॥
तं चिय परिहियवत्थं छेत्तूणं कुणइ अग्गलोभारं ।
कंबल रयणेय गुंठिं, काउं रण्णो ठियं पुरतो ॥ ९१ ॥
एयं मे सामत्थं, भणइ अवणेहि मत्थोतेगुंठिं ।
नो णं केसविहूणं, केसेहिं विणा पलोएमि ॥ ९२ ॥
अह भणइ नंदराया, लाभो ते धीर नत्थि रोहियव्वं ।
वाढं ते भाणिऊणं, अह सो संपत्थितो तत्तो ॥ ९३ ॥
अह भणइ नंदराया, वच्चइ गणियाघरं जइ कहिं चि ।
तेणं अमच्चवाद्धिं, तीसे पुरितो विणाएमि (?) ॥ ९४ ॥
सो कुलघरिसामिड्ढिं, गणियघरसंतियं च सामिड्ढिं ।
पाएण पणोल्लेउं, नीति णगरा अणावयक्खो ॥ ९५ ॥
जो एवं पव्वइओ, एवं सज्झायज्झाणउज्जुत्तो ।
गारवकरणेण हिओ, सीलभरुव्वहणधोरेओ ॥ ९६ ॥
जह जह एही कालो, तह तह अप्पावराहसंरद्धा ।
अणगारा पडणीते, निसंसयं उवट्ठवेहिंति ॥ ९७ ॥
उप्पायणीहि अवरे, केई विज्जा य उप्पइत्ताणं ।
विउह विद्वी विज्जाहि, दाइं काहिंति उड्डाहं ॥ ९८ ॥
मंतेहि य चुन्नेहि य, कुच्छिय विज्जाहिं तह निमित्तेण ।
काऊण उवग्घायं, भमिहिंति अणंतसंसारे ॥ ९९ ॥
अह भणइ थूलभद्दो, अण्णं रूवं न किंचि काहामो ।
इच्छामि जाणिउं जे, अहमं चत्तारि पुव्वाइं ॥ ८०० ॥
नाहिसि तं पुव्वाइं, सुयमेत्ताइं विमुग्गहा हिंति (?) ।
दस पुण ते अणुजाणे, जाण पणट्ठाइं चत्तारि ॥ ८०१ ॥
एतेण कारणेण उ पुरिसजुगे अट्ठमंमि वीरस्स ।
सयराहेण पणट्ठाइं, जाण चत्तारि पुव्वाइं ॥ ८०२ ॥"

—तित्थोगालि पइन्नय ।

माथुरी वाचना

यह वाचना वीर निर्वाण से ८२७ और ८४० के बीच में किसी वर्ष में युगप्रधान आचार्य स्कंदिल सूरि की प्रमुखता में मथुरा नगरी में हुई थी,[७२] इसलिये यह "माथुरी वाचना" कहलाती है।

७२ वालभी स्थविरावली के लेखानुसार 'स्कंदिल' नाम के आचार्य महावीर के बाद के प्रधान स्थविरों में १३ वें पुरुष थे, जो निर्वाण संवत् ३७७ से ४१४ तक युगप्रधान पद पर विद्यमान थे। इन्होंने २२ वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली थी और ४८ वर्ष तक सामान्य श्रमण तथा ३८ वर्ष पर्यंत युगप्रधान पद पर रहकर ये १०८ वर्ष की अवस्था में वी० नि० संवत् ४१४ में स्वर्गवासी हुए थे।

माथुरी स्थविरावली के कथनानुसार उपयुक्त समय भावी आचार्य का नाम 'खंदिल' (स्कंदिल) नहीं पर संडिल्ल (सांडिल्य) था।

माथुरी का सांडिल्य (संडिल्ल) या वालभी का खंदिल अनुयोग-प्रवर्तक प्रकृत स्कंदिल से भिन्न होने से इनके संबंध में ज्यादह ऊहापोह करना अप्रस्तुत है।

अब हम अनुयोग-प्रवर्तक दूसरे स्कंदिलाचार्य के संबंध में यह देखेंगे कि ये आचार्य किस गच्छ और शाखा के थे और इनका अस्तित्व-समय क्या था ?

वृद्धवादि प्रबंध में आचार्य प्रभाचंद्र लिखते हैं कि विद्याधर आम्नाय में पादलिप्त सूरि के कुल में आचार्य स्कंदिल हुए जो जैन शासन रूपी नंदन वन में कल्पवृक्ष-समान सर्वश्रुत के अनुयोग को अंकुरित करने में मेघ-समान और विद्याधराम्नाय में चिंतामणि-तुल्य इष्ट देनेवाले थे। देखो उक्त प्रबंध के निम्नलिखित श्लोक—

> "पारिजातोऽपारिजातो, जैनशासननन्दने।
> सर्वश्रुतानुयोगार्ह-कन्दुकन्दलनाम्बुदः ॥ ४ ॥
> विद्याधरवराम्नाये, चिन्तामणिरिवेष्टदः।
> आसीच्छ्रीस्कन्दिलाचार्यः, पादलिप्तप्रभोः कुले ॥ ५ ॥"
>
> —प्रभावकचरितवृद्धवादिप्रबंध ६१।

इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि अनुयोगोद्धारक आर्य स्कंदिल विद्याधर आम्नाय के और पादलिप्त की परंपरा के स्थविर थे।

विद्याधर आम्नाय का अर्थ विद्याधर गच्छ है या शाखा अथवा कुल, इसका हम निश्चय नहीं कर सकते, परंतु यह अनुमान कर सकते हैं कि आर्य सुहस्ती के शिष्य सुस्थित सुप्रतिबुद्ध से चले हुए कोटिक गण की जो ४ शाखाएँ

थीं, उनमें की दूसरी शाखा का नाम विद्याधरी था। संभवतः सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध के दूसरे शिष्य विद्याधर गोपाल से यह शाखा प्रचलित हुई थी और इसकी उत्पत्ति विक्रम पूर्व दूसरी शताब्दी में हुई थी। यही विद्याधरी शाखा पिछले समय में विद्याधरकुल के नाम से प्रख्यात हो गई होगी, जैसा कि 'नाइली' शाखा के संबंध में हुआ है, और यह विद्याधरकुल भी धीरे धीरे विद्याधर गच्छ के नाम से प्रख्यात हो गया होगा जैसा कि नाइल और निर्वृति कुल के विषय में हुआ है। इसलिये यहाँ पर हम 'विद्याधराम्नाय' का अर्थ 'विद्याधर गच्छ' करें चाहे 'विद्याधर कुल' बात एक ही होगी, क्योंकि इन दोनों नामों की उत्पत्ति 'विद्याधरी' शाखा से है। इस दशा में आचार्य स्कंदिल के संबंध में यह कहा जाय कि 'वे विद्याधरी शाखा के स्थविर थे' तो कुछ भी अनुचित नहीं है।

आचार्य मलयगिरिजी नंदीटीका में स्कंदिलाचार्य को सिंहवाचकसूरिशिष्य लिखते हैं—(तान् स्कंदिलाचार्यान् सिंहवाचकसूरिशिष्यान्) परंतु हम इस विषय में इस उल्लेख पर ज्यादा जोर नहीं दे सकते, क्योंकि मलयगिरिजी का उक्त उल्लेख नंदी की स्थविरावली को देवर्धिगणि की गुरुपरंपरा समझ लेने का परिणाम मात्र है। हम आगे किसी प्रसंग पर इस बात को स्पष्ट करके बताएँगे कि नंदी की स्थविरावली देवर्धि की गुरुपरंपरा नहीं किंतु युगप्रधान-पट्टावली है। इसलिये स्कंदिल को सिंहसूरि का शिष्य मानने के लिये हम इस उल्लेख मात्र से तैयार नहीं हो सकते हैं।

दूसरी बात यह भी है कि नंदी की थेरावली में ही इन सिंहवाचक को 'ब्रह्मद्वीपक' कहा है, इससे यह बात तो निर्विवाद है कि ये सिंहसूरि 'ब्रह्मद्वीपिका' शाखा के स्थविर थे। स्कंदिलाचार्य विद्याधरी शाखा की परंपरा के स्थविर थे यह बात पहले ही कह दी गई है, इसलिये स्कंदिल को सिंहसूरि का शिष्य मानना संशय-रहित नहीं होगा।

पूर्वोक्त प्रभावक चरित्र के उल्लेख में स्कंदिलाचार्य का पादलिप्त के कुल में होना लिखा है, इससे यह बात तो निश्चित है कि इनका सत्ता समय पादलिप्त का पिछला समय ही हो सकता है।

प्रभावकचरित्र आदि ग्रंथों के कथन से जाना जाता है कि पादलिप्त सूरि विक्रम की प्रथम शताब्दी के व्यक्ति होने चाहिएँ, क्योंकि वे खपटाचार्य के विद्यार्थी थे और उन्हीं ग्रंथों के अनुसार खपटाचार्य का स्वर्गवास वीर निर्वाण सं० ४८४ में हुआ था। 'पादलिप्त के कुल में स्कंदिल हुए' इस उक्ति से तात्पर्य यह निकलता है कि पादलिप्त के पीछे उनकी परंपरा में स्कंदिल हुए, पर वे कितने अंतर पर हुए इसका खुलासा उक्त उल्लेख से नहीं हो सकता।

जिस प्रकार भद्रबाहु के समय में दुर्भिक्ष के कारण श्रुत-परंपरा छिन्न भिन्न हो गई थी, उसी तरह आचार्य स्कंदिल के समय में भी दुष्काल के कारण आगमश्रुत अव्यवस्थित हो गया था, कितने ही श्रुतधर स्थविर परलोकवासी हो चुके थे, विद्यमान श्रमणगण में भी पठन पाठन की प्रवृत्तियाँ बंद हो चली थीं। उस समय उस प्रदेश में आचार्य स्कंदिल ही एक विशेष श्रुतधर रहने पाए थे। दुर्भिक्ष का संकट दूर होते ही आचार्य स्कंदिलजी की प्रमुखता में मथुरा में

आचार्य मेरुतुंग की विचारश्रेणि में इस विषय में नीचे लिखे अनुसार उल्लेख है—

"श्रीविक्रमात् ११४ वर्षैर्वज्रस्वामी, तदनु २३९ वर्षैः स्कन्दिलः।"

अर्थात्—'विक्रम से ११४ वर्ष में वज्रस्वामी (स्वर्गवासी हुए) और उनके बाद २३९ वर्ष व्यतीत होने पर स्कंदिलाचार्य हुए।'

इस हिसाब से आचार्य स्कंदिल का समय विक्रम संवत् ३५३ में आता है, पर हम देखते हैं कि इस गणना में ३ वर्ष की स्पष्ट भूल है। आचार्य मेरुतुंग ने इस गणना में आर्यवज्र के बाद वज्रसेन के अस्तित्व के ३३ वर्ष ही गिने हैं पर चाहिए थे ३६ वर्ष, क्योंकि वज्र के बाद १३ वर्ष आर्यरक्षित, २० वर्ष पुष्पमित्र और उनके बाद ३ वर्ष तक वज्रसेन युगप्रधान रहे थे, इसलिये वज्र के बाद वज्रसेन ३६ वर्ष तक जीवित रहे। उनके बाद नागहस्ति ६९, रेवतिमित्र ५९ और ब्रह्मद्वीपकसिंह ७८ वर्ष तक युगप्रधान रहे। कुल विक्रम वर्ष ३५६ (११४+३६+६९+५९+७८=३५६) सिंहसूरि के स्वर्गवास तक हुए, इसके बाद आचार्य स्कंदिल का युगप्रधानत्वपर्याय शुरू हुआ।

आचार्य मेरुतुंग ने स्कंदिल, हिमवत्, नागार्जुन इन तीनों स्थविरों के युगप्रधानत्व पर्याय के एकत्र ७८ वर्ष लिखे हैं, पर यह नहीं बताया कि इनमें से किनके कितने वर्ष लेने चाहिए।

गाँव मुंडारा के यतिजी पं० यशस्वंतसागरजी के पुस्तकभंडार में दुष्षमा संघ-स्तोत्र की प्रति के अंत में देवर्द्धिगणि पर्यंत के स्थविरों की पट्टावली दी हुई है, उसमें स्कंदिलाचार्य का युगप्रधानत्व समय वीर संवत् ८०० से ८१४ तक १४ वर्ष का लिखा है। बहुत प्राचीन न होने के कारण हम इस पट्टावली पर ज्यादा विश्वास नहीं कर सकते तब भी इसमें लिखे अनुसार स्कंदिल के युगप्रधानत्व के १४ वर्ष ठीक मान लें तो अनुयोगप्रवर्तक स्कंदिलाचार्य का समय विक्रम संवत् ३५७ से ३७० (वी० नि० ८२७ से ८४०) तक मानना कुछ भी अनुचित नहीं है।

श्वेतांबर श्रमणसंघ एकत्र हुआ और आगमों को व्यवस्थित करने में लग गया। जिसे जो आगमसूत्र या उसका खंड याद था वह लिख लिया गया। इस तरह आगम और उनका अनुयोग लिखके व्यवस्थित करने के बाद स्थविर स्कंदिलजी ने उसके अनुसार साधुओं को वाचना दी, इसी कारण से यह वाचना "स्कांदिली वाचना" नाम से भी प्रसिद्ध है[७२]।

---

७३ माथुरी वाचना के विषय में अनेक जैन ग्रंथों में उल्लेख तो मिलते हैं, पर पाटलिपुत्री वाचना का जितना विस्तृत और विशद वर्णन मिलता है उतना वर्णन इसका कहीं भी नहीं मिलता, फिर भी यह वाचना कम महत्त्व की नहीं है। आचार्य मलयगिरिजी की नंदीटीका और ज्योतिषकरंडक-टीका में, भद्रेश्वर की कथावली में और हेमचंद्राचार्य की योगशास्त्र वृत्ति में इस वाचना के संबंध में महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलते हैं, जिनका हम यथास्थान उल्लेख करके पाठकगण की जिज्ञासा पूर्ण करेंगे।

आचार्य मलयगिरिजी ने नंदीथेरावली की—

"जेसिमिमो अणुओगो, पयरइ अज्जा वि अड्ढभरहम्मि।

बहुनयर निग्गयजसे, ते वंदे खंदिलायरिए॥ ३२॥"

—इस गाथा पर टीका करते हुए लिखा है कि 'वर्तमान अनुयोग स्कंदिलाचार्य का क्यों कहलाता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आचार्य स्कंदिल के युगप्रधानत्व समय में बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ा, इस विकट दुर्भिक्ष के समय में साधुओं को भिक्षा मिलना भी असंभव हो गया जिससे न तो वे शास्त्र पढ़ सके और न पठित आगमों को याद ही रख सके। इस कारण से कितना ही अलौकिक श्रुत नष्ट हो गया, परावर्तन न होने से अंगोपांगगत भी भाव से नष्ट हो गया। बारह वर्ष के बाद जब दुर्भिक्ष मिटकर सुकाल हुआ तब मथुरा नगरी में स्कंदिलाचार्य्य की प्रमुखता में श्रमणसंघ इकट्ठा हुआ। उस समय जिसको जो याद था वह कहता गया, इस प्रकार कालिक श्रुत और थोड़े से पूर्वश्रुत की वहाँ संघटना की गई। मथुरा में संपन्न होने के सबब से यह वाचना 'माथुरी' कही जाती है। उस समय के युगप्रधान स्कन्दिलाचार्य्य ने उसे प्रमाण किया और उसका अनुयोग किया इससे वह अनुयोग स्कंदिल संबंधी कहाता है।

'अन्य आचार्य्य इस संबंध में कहते हैं कि दुर्भिक्ष के वश कुछ भी श्रुत नष्ट नहीं हुआ पर स्कंदिलाचार्य को छोड़कर दूसरे अनुयोगधर दुष्काल के सबब से मृत्यु का ग्रास हो चुके थे, इसलिये दुर्भिक्ष के अंत में स्कंदिला-

चार्य्य ने मथुरा में अनुयोग किया, इस कारण से इस वाचना का नाम 'माथुरी' पड़ा और अनुयोग स्कंदिल संबंधी कहलाया।'

विद्वानों के अवलोकनार्थ हम नंदी टीका का वह पाठ कि जिसका आशय ऊपर लिख दिया है, नीचे उद्धृत करते हैं—

"अथायमनुयोगोऽर्द्धभरते व्याप्रियमाणः कथं तेषां स्कन्दिलनाम्नामाचार्याणां संबंधी ? उच्यते—इह स्कन्दिलाचार्य्यप्रतिपत्तौ दुष्षमसुषमाप्रतिपन्थिन्याः तद्गतसकलशुभभावग्रसनैकसमारंभायाः दुष्षमायाः साहायकमाधातुं परम-सुहृदिव द्वादशवार्षिकं दुर्भिक्षमुदपादि, तत्र चैवं रूपे महति दुर्भिक्षे भिक्षालाभ-स्याऽसम्भवादवसीदतां साधूनामपूर्वार्थग्रहणपूर्वार्थास्मरणश्रुतपरावर्तनानि मूलत एवापजग्मुः। श्रुतमपि चातिशायिप्रभूतमनेशत्। अङ्गोपाङ्गादिगतमपि भावतो विप्रनष्टम्। तत्परावर्तनादेरभावात्, ततो द्वादशवर्षानन्तरमुत्पन्ने सुभिक्षे मथुरापुरि स्कन्दिलाचार्य्यप्रमुखश्रमणसंघेनैकत्र मिलित्वा यो यत् स्मरति स तत्कथयतीत्येवं कालिकश्रुतं पूर्वगतं च किंचिदनुसन्धाय घटितं, यतश्चैतन्म-थुरापुरि संघटितमत इयं वाचना 'माथुरी'त्यभिधीयते, सा च तत्कालयुगप्रधा-नानां स्कन्दिलाचार्याणामभिमता तैरेव चार्थतः शिष्यबुद्धिं प्रापितेति तदनुयोगः तेषामाचार्याणां सम्बन्धीति व्यपदिश्यते। अपरे पुनरेवमाहुः—न किमपि श्रुतं दुर्भिक्षवशात् अनेशत्, किन्तु तावदेव तत्काले श्रुतमनुवर्तते स्म। केवल-मन्ये प्रधाना येऽनुयोगधराः ते सर्वेऽपि दुर्भिक्षकालकवलीकृताः, एक एव स्कंदिल सूरयो विद्यन्ते स्म। ततस्तैर्दुर्भिक्षापगमे मथुरापुरि पुनरनुयोगः प्रवर्तित इति वाचना माथुरीति व्यपदिश्यते, अनुयोगश्च तेषामाचार्याणामिति।"

-नन्दी ५१।

इस वाचना के वर्णन में हमने 'जिसे जो आगमसूत्र या उसका खंड याद था वह उससे लिख लिया गया' यह जो उल्लेख किया है इसके संबंध में जरा स्पष्टीकरण आवश्यक है। हम लोगों की सामान्य मान्यता यह है कि हमारे आगम-शास्त्र देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय वीर निर्वाण संवत् ९८० में ही पुस्तकों पर लिखे गए थे, उसके पहले तमाम आगम आचार्यों और साधुओं के मुखपाठ होते थे।

"वलहिपुरम्मि नयरे, देवड्ढिपमुहेण समणसंघेण।
पुत्थइ आगमु लिहिओ, नवसयअसीआओ वीराओ॥"

—इत्यादि परंपरागत गाथाओं का हम यही अर्थ मान लेते हैं कि पहले पहल हमारा शास्त्र देवर्द्धिगणि के समय में लिखा गया, परन्तु वस्तु-स्थिति इससे भिन्न है। देवर्द्धिगणि के समय में शास्त्र लिखा गया इस बात से हम इनकार नहीं करते, पर हम यह भी नहीं कह सकते कि उसके पहले हमारे आगम-शास्त्र लिखे नहीं गए थे।

अनुयोगद्वारसूत्र में पत्र पुस्तक पर लिखे हुए श्रुत को द्रव्यश्रुत कहा है। देखो अनुयोगद्वार का निम्नलिखित वाक्य—

"से किं तं जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्तं दव्वसुअं? पत्तयपोत्थयलिहिअं"

—अनुयोगद्वारसूत्र ३४।

यदि देवर्द्धिगणि के पहले आगम लिखे हुए नहीं होते तो अनुयोगद्वार में द्रव्यश्रुत के वर्णन में पुस्तकलिखित श्रुत का उल्लेख नहीं होता। इससे यह बात तो निश्चित है कि देवर्द्धिगणि के समय से बहुत पहले जैन शास्त्र लिखे जाने की प्रवृत्ति हो चली थी। छेदसूत्रों में साधुओं को कालिकश्रुत और कालिकश्रुत निर्युक्ति के लिये पांच प्रकार की पुस्तकें रखने का अधिकार दिया गया है। देखो निशीथचूर्णि का निम्नलिखित पाठ—

"मेहउग्गहणधारणादिपरिहाणिं जाणिऊण कालियसुयट्ठा, कालियसुयणिज्जुत्तिनिमित्तं वा पोत्थगपणगं घेप्पति॥"

—निशीथचूर्णि उद्देशक १२ पत्र ३२१।

यदि पूर्वकाल में सूत्रों की पुस्तकें लिखी नहीं जाती होतीं तो निशीथभाष्यकार वगैरह इनकी चर्चा और विधान नहीं करते।

इससे यह मानने में तो कोई विरोध ही नहीं है कि देवर्द्धिगणि के पुस्तक-लेखन के पहले भी जैन शास्त्र लिखे जाते थे, परंतु यह लेखनप्रवृत्ति कब से शुरू हुई इसका निर्णय होना मुश्किल है। जहां तक मेरा ख्याल है, आर्यरक्षितजी के समय से ही पूर्वश्रुत के अतिरिक्त जैन आगम-ग्रंथ अल्प प्रमाण में लिखे जाने शुरू हुए होंगे। भगवान् आर्यरक्षितजी ने देश काल का विचार करके प्राचीन कालीन अनेक आचार-परंपराओं को बदला था, इसी सिलसिले में उन्होंने विद्यार्थियों के सुभीते के लिये चारों अनुयोगों को भी पृथक् पृथक् किया था। कोई आश्चर्य नहीं है, यदि उन्होंने उसी समय मंदबुद्धि साधुओं के अनुग्रहार्थ अपवाद मार्ग से आगम लिखने की भी आज्ञा दे दी हो। इनके अभिमत अनुयोगद्वार में 'पुस्तक लिखित श्रुत' शब्द का प्रयोग भी हमारे इस अनुमान का समर्थक है।

प्रस्तुत माथुरी वाचना के समय आगम लिखे गए थे इसके तो हमें स्पष्ट उल्लेख भी मिलते हैं।

आचार्य हेमचंद्र योगशास्त्र वृत्ति में लिखते हैं कि 'दुष्षमा कालवश जिन वचन को नष्टप्राय समझकर भगवान् नागार्जुन स्कंदिलाचार्य प्रमुख ने उसे पुस्तकों में लिखा'। देखो निम्नलिखित पंक्तियां—

वालभी वाचना

जिस काल में मथुरा में आर्य स्कंदिल ने आगमोद्धार करके उनकी वाचना शुरू की उसी काल में वलभी नगरी में नागार्जुन सूरि ने भी श्रमणसंघ इकट्ठा किया और दुर्भिक्षवश नष्टावशेष आगम सिद्धांतों का उद्धार शुरू किया। वाचक नागार्जुन और एकत्रित संघ को जो जो आगम और उनके अनुयोगों के उपरांत प्रकरण ग्रंथ याद थे वे लिख लिए गए और विस्मृत स्थलों को पूर्वापर संबंध के अनुसार ठीक करके उसके अनुसार वाचना दी गई।[१] इस सिद्धांतो-

---

"जिनवचनं च दुष्षमाकालवशादुच्छिन्नप्रायमिति मत्वा भगवद्भिर्नागार्जुन-स्कंदिलाचार्यप्रभृतिभिः पुस्तकेषु न्यस्तम्।"

—योगशास्त्रप्रकाश ३ पत्र २०७।

ऊपर के विवेचन से पाठक महोदय समझ सकेंगे कि माथुरी और वालभी वाचना के समय में स्कंदिलाचार्य और नागार्जुन वाचकों ने आगमों को पुस्तकों में लिखाया था, इसमें तो कोई शक नहीं है, पर संभवतः उसके पहले भी आगम लिखे जाते थे और कारण योग से साधु उन पुस्तकों को अपने पास भी रखते थे।

७४ कथावली में माथुरी और वालभी वाचना के संबंध में एकत्र उल्लेख करते हुए आचार्य भद्रेश्वर सूरि लिखते हैं कि—

'मथुरा में स्कंदिल नामक श्रुतसमृद्ध आचार्य थे और वलभीपुर में नागार्जुन। उस समय में दुष्काल पड़ने पर उन्होंने अपने साधुओं को भिन्न भिन्न दिशाओं में भेज दिया। किसी तरह दुष्काल का समय व्यतीत करके सुभिक्ष के समय में फिर वे इकट्ठे हुए और अभ्यस्त शास्त्रों का परावर्तन करने लगे, तो उन्हें मालूम हुआ कि प्रायः वे पढ़े हुए शास्त्रों को भूल चुके हैं। यह दशा देख कर आचार्यों ने श्रुत का विच्छेद रोकने के लिये सिद्धांत का उद्धार करना शुरू किया। जो जो आगम पाठ याद था वह वैसे ही स्थापन किया गया और जो भूला जा चुका था वह स्थल पूर्वापर संबंध देखकर व्यवस्थित किया गया।'

देखो कथावली का मूललेख—

"अत्थि महुराउरीए सुयसमिद्धो खंदिलो नाम सूरी, तहा वलहिनयरीए नागज्जुणो नाम सूरी। तेहि य जाए बारिसिए दुक्काले निव्वउ भावओवि फुट्टिं (?) काऊण पेसिया दिसोदिसिं साहवो गमिउं च कहवि दुत्थं ते पुणो मिलिया सुगाले, जाव सज्झायंति ताव खंडुखुरुडीहूयं पुव्वाहियं। तओ मा सुय-

द्धार और वाचना में आचार्य नागार्जुन प्रमुख स्थविर थे इस कारण से इसे "नागार्जुनी वाचना" भी कह सकते हैं।

ऊपर लिखा जा चुका है कि माथुरी और वालभी—ये दोनों वाचनाएँ करीब एक ही काल में संपन्न हुई थीं; और इससे यह कहने की आवश्यकता ही नहीं रहती कि आचार्य स्कंदिल और नागार्जुन समकालीन स्थविर थे। परंतु दुर्भाग्य की बात यह है कि उक्त वाचनाओं का महान् कार्य संपन्न होने के बाद इन सिद्धांतोद्धारक दोनों महास्थविरों का आपस में मिलना नहीं हुआ, इससे उक्त दोनों वाचनाओं में जहाँ कहीं कुछ भिन्नता रह गई थी वह वैसे ही रह गई, जिसका आज तक टीकाओं में उल्लेख पाया जाता है।[७५]

वोच्छिन्नती होइ (उ) त्ति पारद्धो सूरीहिं सिद्धंतुद्धारो। तत्थवि जं न वीसरियं तं तहेव संठवियं। पम्हुट्ठट्ठाणे उण पुव्वावरावडंतसुत्तत्थाणुसारओ कया संघडणा०।"

—कथावली २९८।

इसी से मिलता जुलता इस विषय का उल्लेख मलयगिरि सूरि कृत ज्योतिषकरंडक टीका में भी उपलब्ध होता है, जिसका सार यह है कि 'दुःषमाकाल के प्रभाव से आचार्य स्कंदिल के समय में दुष्काल पड़ा जिससे साधुओं का पठन गुणनादि बंद हो गया था, इसलिये सुभिक्ष होने पर 'वलभी' और 'मथुरा' इन दो जगहों में संघ का सम्मेलन हुआ। वहाँ सूत्र और अर्थ के संघटन में परस्पर कुछ वाचना-भेद हो गया, और भूले हुए सूत्र अर्थ को याद करके व्यवस्थित करने में वाचना-भेद का होना था भी अवश्यंभावी।'

देखो मूल पाठ—"इह हि स्कंदिलाचार्यप्रवृत्तौ दुष्षमानुभावतो दुर्भिक्षप्रवृत्त्या साधूनां पठनगुणनादिकं सर्वमप्यनेशत्। ततो दुर्भिक्षातिक्रमे सुभिक्षप्रवृत्तौ द्वयोः संघयोर्मेलापकोऽभवत्। तद्यथा—एको वलभ्यामेको मथुरायाम्। तत्र च सूत्रार्थसंघटने परस्परवाचनाभेदो जातः। विस्मृतयोर्हि सूत्रार्थयोः स्मृत्वा संघटने भवत्यवश्यं वाचनाभेदो न काचिद्नुपपत्तिः।"

—ज्यौतिषकरण्डक टीका।

७५ इस विषय में कथावलीकार कहते हैं कि 'सिद्धांतों का उद्धार करने के बाद स्कंदिल और नागार्जुन सूरि परस्पर मिल नहीं सके, इस कारण से इनके उद्धार किए हुए सिद्धांत तुल्य होने पर भी उनमें कहीं कहीं वाचना-भेद रह गया, जिसको पिछले आचार्यों ने नहीं बदला और टीकाकारों ने अपनी

देवर्द्धिगणि का पुस्तक लेखन[७६]

उपर्युक्त वाचनाओं को संपन्न हुए करीब डेढ़ सौ वर्ष से अधिक समय व्यतीत हो चुका था, उस समय फिर वलभी नगर में देवर्द्धि

टीकाओं में 'नागार्जुनीय ऐसा पढ़ते हैं' इत्यादि उल्लेख करके 'उन वाचना भेदों को सूचित किया है।'

देखो इस विषय का प्रतिपादक कथावली का मूल लेख—

"परोप्परमसंपण्णमेलावा य तस्समयाओ खंदिलनागज्जुणायरिया कालं काउं देवलोगं गया। तेण तुल्लयाए वि तदुद्धरियसिद्धंताणं जो संजाओ कथय (कहमवि) वायणाभेओ सो य न चालिओ पच्छिमेहिं। तओ विवरणकारेहिं पि नागज्जुणीया उण एवं पढन्ति त्ति समुल्लिंगिया तहे वायाराइसु।"

—कथावली २१८।

७६ कतिपय जैन विद्वानों की यह मान्यता है कि स्थविर देवर्द्धिगणिजी ने वलभीपुर में सिद्धांतों को पुस्तकों में लिखाया, उसी घटना का नाम 'वालभी वाचना' है, और इस कारण से वे स्कंदिल और देवर्द्धि को प्रायः समकालीन भी मान लेते हैं। इस मान्यता के उदाहरण के तौर पर हम उपाध्याय विनयविजयजी के लोकप्रकाश का एक अंश पाठकगण की भेंट करते हैं।

"दुर्भिक्षे स्कंदिलाचार्यदेवर्द्धिगणिवारके।
गणनाभावतः साधुसाध्वीनां विस्मृतं श्रुतम्॥
ततः सुभिक्षे संजाते संघस्य मेलकोऽभवत्।
वलभ्यां मथुरायां च सूत्रार्थघटनाकृते॥
वलभ्यां संगते संघे देवर्द्धिगणिरग्रणीः।
मथुरायां संगते च स्कंदिलार्योऽग्रणीरभूत्॥
ततश्च वाचनाभेदस्तत्र जातः क्वचित् क्वचित्।
विस्मृतस्मरणे भेदो जातु स्यादुभयोरपि॥
तत्त्वं स्ततोऽर्वाचीनैश्च गीतार्थैः पापभीरुभिः।
मतद्वयं तुल्यतया कक्षीकृतमनिर्णयात॥"

—लोकप्रकाश।

उपाध्यायजी के कथन का तात्पर्य वही है जो कथावली में भद्रेश्वर सूरि ने और ज्योतिष्करण्डक टीका में मलयगिरिजी ने कहा है, पर उपाध्यायजी का यह कथन कि 'वालभ्य संघ के अग्रेसर देवर्द्धिगणि थे' बिल्कुल निराधार है। उपर्युक्त ग्रंथों के कथन से यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि स्कंदिलाचार्य के समय में वलभी में मिले हुए संघ के प्रमुख आचार्य नागार्जुन थे और उनकी

गणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में श्रमणसंघ इकट्ठा हुआ, और पूर्वोक्त दोनों वाचनाओं के समय लिखे गए सिद्धांतों के उपरांत जो जो ग्रंथ, प्रकरण मौजूद थे उन सबको लिखाकर सुरक्षित करने का निश्चय किया।

इस श्रमण समवसरण में दोनों वाचनाओं के सिद्धांतों का परस्पर समन्वय किया गया, और जहाँ तक हो सका भेद-भाव मिटाकर उन्हें एक-रूप कर दिया, और जो जो महत्त्वपूर्ण भेद थे उन्हें पाठांतर के रूप में टीका-चूर्णियों में संगृहीत किया। कितनेक प्रकीर्णक ग्रंथ जो केवल एक ही वाचना में थे वैसे के वैसे प्रमाण माने गए।"

दी हुई वाचना ही 'वालभी वाचना' कहलाती है। देवर्द्धिगणि की प्रमुखता में भी वलभी में जैन श्रमणसंघ इकट्ठा हुआ था यह बात सही है, पर उस समय वाचना नहीं हुई, पर पूर्वोक्त दोनों वाचनागत सिद्धांतों का समन्वय करने के उपरांत वे लिखे गए थे, इसी लिये हम इस कार्य को देवर्द्धिगणि की वाचना न कहकर 'पुस्तकलेखन' कहते हैं। इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण आगे किसी टिप्पणी में किया जायगा।

७७ वर्तमान जैन आगमों का मुख्य भाग माथुरी वाचनानुगत है, पर उनमें कोई कोई सूत्र वालभी वाचनानुगत भी होने चाहिएँ। सूत्रों में कहीं कहीं विसंवाद और विरोध तथा विरोधाभाससूचक जो उल्लेख मिलते हैं उनका कारण भी वाचनाओं का भेद ही समझना चाहिए।

आचार्य मलयगिरिजी ज्योतिष्करंडक-टीका में कहते हैं कि 'अनुयोगद्वार आदिक वर्तमान श्रुत माथुरी वाचनानुगत है और ज्योतिष्करंडक सूत्र के कर्ता वालभ्य आचार्य हैं, इसलिये अनुयोगद्वार के साथ इसकी संख्याविषयक शैली की भिन्नता को देखकर संशय नहीं करना चाहिए।'

देखो आचार्य के मूल शब्द—

"तत्राऽनुयोगद्वारादिकमिदानीं वर्तमानं माथुरवाचनानुगतं ज्योतिष्करंडकसूत्रकर्ता चाचार्यो वालभ्यः, तत इदं संख्यास्थानप्रतिपादनं वालभ्यवचनानुगतमिति नास्यानुयोगद्वारप्रतिपादितसंख्यास्थानैः सह विसदृशत्वमुपलभ्य विचिकित्सितव्यमिति।"

ज्योतिष्करंडक टीका।

इससे यह बात तो निश्चित है कि वर्तमान श्रुत माथुरी वाचनानुसार है, केवल ज्योतिष्करंड के वालभी वाचना का ग्रंथ होने का उल्लेख है और हमारे

उपर्युक्त व्यवस्था के बाद स्कंदिल की माथुरी वाचना के अनुसार सब सिद्धांत लिखे गए,[७८] जहाँ जहाँ नागार्जुनी वाचना का

विचारानुसार कतिपय युगप्रधान थेरावलियाँ भी वालभी वाचनानुगत हो सकती हैं, पर इसके सिवा कौन कौन सूत्र प्रकरण वालभी वाचनानुगत होंगे इसका निश्चय होना कठिन है।

७८ 'भगवान् देवर्द्धिगणि ने माथुरी वाचनानुगत आगमों को लिखाया और वालभी वाचनानुसारी पाठों को पाठांतर रूप में रखा' इस प्रकार की हमारी मान्यता के लिये निम्नलिखित प्रमाण दिए जा सकते हैं—

(१) देवर्द्धिगणि नंदी की युगप्रधान स्थविरावली में स्कंदिल और नागार्जुन दोनों आचार्यों का वंदन करते हैं, पर नागार्जुन की अपेक्षा स्कंदिल के प्रति किया गया वंदन कुछ विशिष्टतासूचक है, नागार्जुन को किए हुए वंदन में उनके गुण और पद का ही स्मरण है, पर स्कंदिल के वंदन में उनके अनुयोग की भी सूचना है, इतना ही नहीं बल्कि यहाँ तक कहा गया है कि 'आज तक भारतवर्ष में स्कंदिलाचार्य के अनुयोग का प्रचार हो रहा है।' देखो नंदी की निम्न लिखित गाथा—

"जेसि इमो अणुओगो, पयरइ अज्जावि अड्ढभरहम्मि।
बहुनयरनिग्गयजसे, ते वंदे खंदिलायरिए ॥ ३७ ॥"

इस गाथा में गणिजी ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि आजकल स्कंदिलाचार्य का अनुयोग प्रचलित है।

यदि देवर्द्धिजी ने नागार्जुनकृत वालभी वाचना को मुख्य मानकर उसके अनुसार सिद्धांत लिखाए होते तो 'स्कंदिलाचार्य का अनुयोग प्रचलित है' ऐसा वे कभी नहीं कहते। वालभी वाचनानुयायी दूसरे थेरावलिकारों ने अपनी थेरावलियों में अनुयोग-प्रवर्तक स्कंदिलाचार्य्य का नामोल्लेख तक नहीं किया वैसे ही देवर्द्धिगणि भी यदि नागार्जुनानुयायी होते तो स्कंदिलाचार्य्य के संबंध में उपर्युक्त उल्लेख कभी नहीं करते।

(२) पूर्वोक्त ज्योतिष्करंडक टीका में आचार्य्य मलयगिरि जी भी यही कहते हैं कि अनुयोग द्वार प्रभृति वर्तमानकालीन जैन श्रुत माथुरी वाचनानुगत है।

(३) जैन आगमों में सर्वत्र पूर्णांत मास माना गया है इससे भी यही अनुमान हो सकता है कि इन सूत्रों की संकलना पूर्व या उत्तर हिंदुस्तान में हुई होगी।

(४) जैन सूत्रों में जो दो हजार धनुष का कोश माना गया है वह शौरसेन देश की परिभाषा है।

मगध देश की प्राचीन परिभाषा के अनुसार एक कोश एक हजार धनुष का होता था। देखो नीचे के उल्लेख—

"धनुस्सहस्रं मागधक्रोशः।"

—ललितविस्तर १७०—१२।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में एक हजार धनुष का गोरुत (गाउ) और 'चार' गोरुत का योजन लिखा है। (धनुस्सहस्रं गोरुतम्। चतुर्गोरुतं योजनम्।) कौटिल्य मगध के मौर्य्यराजा चंद्रगुप्त का प्रधान मंत्री था इससे इसने जो ४ हजार धनुष का योजन लिखा है वह मागध परिभाषा ही होनी चाहिए। जैन आगमों में जो २ हजार धनुष का १ कोश अथवा गव्यूत और ८ हजार धनुष का एक योजन माना है वह स्पष्ट ही शौरसेनी परिभाषा है।

वैजयंतीकोश के निम्नलिखित श्लोकों में भी मगध में ४ हजार धनुष का ही योजन होना लिखा है। देखो—

"चतुर्हस्तो धनुर्दण्डो धनुर्धन्वन्तरं युगम्।"
"धन्वन्तरसहस्रं तु क्रोशो गव्या तु तद्द्वयम्।
स्त्री गव्यूतिश्च गव्यूतं गोरुतं गोमतं च तत्॥
गव्यूतानि च चत्वारि योजना कोशलादिषु।
गव्यूतिद्वयमेव स्याद्योजनं मगधादिषु॥ ६३॥"

वैजयंती—देशाध्याय ४०।

तात्पर्य्य इसका यह है कि 'चार हस्त प्रमाण १ धनुर्दंड, हजार धन्वंतर (धनुर्दंड) का एक क्रोश, दो क्रोश का १ गव्यूत, ४ गव्यूत का कोशल आदि देशों का १ योजन। मगध आदि में दो गव्यूत (४ क्रोश) का ही १ योजन होता है'।

ऊपर के उल्लेखों से यही साबित होता है कि जैनसूत्रों में क्रोश और योजनों की जो परिभाषा है वह मगध की नहीं पर दूसरे देश की है, और वह दूसरा देश और कोई नहीं पर शौरसेन (मथुरा के आस पास का प्रदेश) ही होना चाहिए, क्योंकि वहीं इन सूत्रों का पुनरुद्धार और संकलन हुआ था।

(५) प्राचीन जैन सूत्रों की भाषा में मागधी के साथ ही शौरसेनी प्राकृत की बहुलता भी उपर्युक्त अनुमान का ही समर्थन करती है।

(६) सूत्रों में जहाँ जहाँ वाचनाकृत पाठभेद था उन सभी स्थलों में नागार्जुन के वालभी वाचनानुगत पाठों को ही टीकाओं में पाठांतरों के रूप में लिखा है। पर कहीं भी स्कांदिलीय वाचनानुगत पाठों का पाठांतर तथा उल्लेख नहीं मिलता। देखो आचारांग तथा सूत्रकृतांग टीका और कथावली के निम्नोद्धृत अवतरण—

मतभेद और पाठभेद था वह टीका में लिख दिया गया, पर जिन पाठांतरों को नागार्जुनानुयायी किसी तरह छोड़ने को तैयार न थे,

---

"नागार्जुनीयास्तु पठंति—एवं खलु० ।"

—आचारांग टीका २४५ ।

"नागार्जुनीयास्तु पठंति—समणा भविस्सामो०"

—आचारांग टीका २५३ ।

"नागार्जुनीयास्तु पठंति—जे खलु० ।"

—आचारांग टीका २५६ ।

"नागार्जुनीयास्तु पठंति—पुट्ठो वा०"

—आचारांग टीका ३०३ ।

"अत्रांतरे नागार्जुनीयास्तु पठंति—सो ऊण तयं उवट्ठियं० ।"

—सूत्रकृतांग टीका ६४ ।

"नागार्जुनीयास्तु पठंति—पलिमंथमहं वियाणिया० ।"

—सूत्रकृतांग टीका ६४ ।

"तओ विवरणकारेहिं पि नागज्जुणीया उण एवं पढंतित्ति समुल्लिंगिया त-इंवायाराइसु ।"

—कथावली २६८ ।

इन पाठांतर-उल्लेखों से यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि पुस्तकलेखन के समय में माथुरी वाचनानुगत स्कंदिलाचार्य के अनुयोग को मुख्य मान लेने से ही गणिजी को नागार्जुनीय वाचनागत पाठों को पाठांतर मानना पड़ा होगा ।

(७) इसी लेख में हम आगे जाकर देखेंगे कि पूर्वकाल में जैनों में दो युगप्रधान परंपराएँ प्रचलित थीं, एक माथुरी और दूसरी वालभी । वीर निर्वाण संवत् के विषय में दोनों परंपराओं की मान्यता भिन्न भिन्न थी । देवर्द्धिगणि के सिद्धांत-लेखनकाल में माथुरी परंपरा के कथनानुसार निर्वाण का ६८० वां वर्ष चलता था, तब वालभी-वाचनानुयायियों की मान्यता के अनुसार वह ६६३ वां वर्ष था । इन दोनों मान्यताओं को देवर्द्धिजी ने कल्पसूत्र में उल्लिखित किया है, जिसमें माथुरी वाचनानुगत समय विषयक मान्यता को उन्होंने सैद्धांतिक मानकर क्रमप्राप्त स्थान में लिखा और १३ वर्ष के अंतरवाली वालभी वाचनानुगत मान्यता को वाचनांतर की मान्यता कहकर पाठांतर के ढंग से लिखा है ।

इन सब बातों का विचार करने पर यही कहना पड़ता है कि देवर्द्धिगणि-जी ने माथुरी वाचना को मुख्य मानकर तदनुसार आगमों को लिखाया था ।

उनका मूलसूत्र में भी "वायणंतरे पुण" इन शब्दों के साथ उल्लेख कर दिया।[७६] कल्पसूत्र का—

७६ यद्यपि देवर्द्धि के पुस्तकलेखन के कार्य का विशेष प्रकाश करनेवाला कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता तथापि कार्य की गुरुता देखते हुए यह कहना कुछ भी असंभावित नहीं होगा कि इस कार्य्य-संघटन-समय में दोनों वाचनानुयायी संघों में अवश्य ही संघर्षण हुआ होगा। अपनी अपनी परंपरागत वाचना को ठीक मनवाने के लिये अनेक कोशिशें हुई होंगी और अनेक काट छाँट होने के उपरांत ही दोनों संघों में समझौता हुआ होगा। हमारे इस अनुमान की पुष्टि में निम्नलिखित गाथा उपस्थित की जा सकती है—

"वालब्भसंघकज्जे, उज्जमिश्रं जुगपहाणतुल्लेहिं।
गंधव्ववाइवेयाल-संतिसूरीहिं वलहीए॥ २॥"

यह गाथा एक दुष्षमासंघ स्तोत्रयंत्र की प्रति के हाशिये पर लिखी हुई है। इसका भाव यह है कि 'युगप्रधान तुल्य गंधर्व वादि वेताल शान्तिसूरि ने वालभ्य संघ के कार्य्य के लिये वलभी नगरी में उद्यम किया।'

जहां तक मैं समझता हूँ, गाथोक्त 'वालभ्य संघ' का तात्पर्य्य वालभी वाचनानुयायी श्रमणसंघ से है और 'इसके कार्य्य के लिये शांतिसूरि ने उद्यम किया' इस उल्लेख में 'देवर्द्धिगणि के आगम लेखन कार्य्य के अवसर पर वालभी वाचना के प्रति न्याय दिखाने के लिये किए हुए गंधर्व वादि वेतालशांति सूरि के उद्यम की सूचना है। यदि मेरा यह अनुमान ठीक हो तो इससे यह सिद्ध हो सकता है कि निर्वाण सं ९८० के अर्से में देवर्द्धिगणि की प्रमुखता में वलभी में जो श्वेतांबर श्रमणसंघ एकत्र हुआ था वह माथुरी और वालभी इन दोनों परंपराओं का संमिलित संघ था। माथुरी परंपरा के मुखिया युगप्रधान देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण थे और वालभी परंपरा के प्रमुख कालकाचार्य्य और उपप्रमुख युगप्रधानतुल्य गंधर्ववादि वेताल शांतिसूरि।

इन्हीं शांतिसूरि के संबंध में तपागच्छ की एक जीर्ण पट्टावली में नीचे लिखे अनुसार उल्लेख दृष्टिगोचर होता है—

"श्री वीरात् ८४५ श्री विक्रमात् ३७५ वलभीनगरीभंगः कचिदेवं श्रीवीरात् ९०४ गंधर्ववादिवेतालश्रीशांतिसूरिणा वलभीभंगे श्रीसंघरक्षा कृता।"

—अज्ञातकर्तृक तपागच्छीय पट्टावली।

अर्थात 'वीरनिर्वाण से ८४५ और विक्रम से ३७५ में वलभी नगरी का भंग हुआ। कहीं कहीं ऐसा भी है कि वीरनिर्वाण से ९०४ में वलभी का भंग हुआ और उस अवसर पर गंधर्व वादि वेताल शांतिसूरि ने श्रीसंघ की रक्षा की।'

"वायणंतरे पुण अयं तेणउए संवच्छरे काले गच्छइ इइ दीसइ।" —यह पाठांतर-उल्लेख इसी विषय का एक उदाहरण समझना चाहिए।

ऊपर कहा गया है कि देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने माथुरी वाचना को मुख्य मानकर उसके अनुसार सिद्धांत पुस्तकारूढ़ किया था। गणिजी ने अपने इस कार्य के साथ भगवान् महावीर के निर्वाण समय का संबंध दिखाते हुए कल्पसूत्रांतर्गत महावीरचरित्र के अंत में लिखा है—

"समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव सव्वदुक्खप्पहीणस्स नव वाससयाइं वइक्कंताइं, दसमस्स वाससयस्स अयं असी इमे संवच्छरे काले गच्छइ।"

अर्थात् 'श्रमण भगवान् महावीर को मुक्त हुए नव सदियाँ बीत गईं और दसवीं सदी का यह अस्सीवाँ वर्ष चलता है।'

इसी सूत्र के अनंतर वे लिखते हैं—

"वायणंतरे पुण अयं तेणउए संवच्छरे काले गच्छइ।"

अर्थात् 'दूसरी वाचना में देखा जाता है, दसवीं सदी का यह तेरानवेवाँ वर्ष चलता है।'

गणिजी के इन उल्लेखों से यह बात स्पष्ट होती है कि उनके समय में महावीर निर्वाण संवत् के विषय में दो मत थे। माथुरी

पट्टावलीकार गंधर्ववादि वेताल के उद्यम का अर्थ 'परचक्र भय से संघरक्षा' ऐसा करते हैं और इस घटना को निर्वाण संवत् ६०४ में हुआ बताते हैं; पर ६०४ के आस पास वलभी भंग बतानेवाले इस उल्लेख का इतिहास से समर्थन नहीं होता। पूर्वोक्त गाथा में भी इस बात का कुछ जिकर नहीं है। राज्यविप्लव में एक आचार्य्य से संघरक्षा का संभव भी नहीं माना जा सकता—इसलिये मेरा खयाल तो यह है कि वलभी-भंग-सूचक उल्लेख के साथ होने से ही इस उल्लेख में भी वलभी भंग शब्द जुड़ गया मालूम होता है। वस्तुतः यह उल्लेख देवर्द्धिगणि के पुस्तकोद्धारकार्य्य में वालभ्यसंघ की ओर से शांतिसूरि द्वारा दिए गए सहयोग का स्मारक है। इसमें संवत् सूचक जो ६०४ का अंक है वह, मेरे विचार में, ठीक नहीं है। मूल में ६८४ अथवा ६९४ संवत् होगा जो पीछे से गलती से ६०४ हो गया है।

वाचनानुयायी कहते यह अस्सीवाँ वर्ष है, तब वालभी वाचनावालों का कहना था, यह अस्सीवाँ नहीं, तेरानवेवाँ वर्ष है।

यह मत-भेद कब और कैसे खड़ा हुआ इसका कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, पर प्राचीन स्थविरावलियों का सूक्ष्म पर्यालोचन करने पर इस मत-भेद का बीज हमारी समझ में आ सकता है।

इस समय हमें दो तरह की जैन स्थविरावलियाँ मिलती हैं। पहिली माथुरी—जो नंदि सूत्र के प्रारंभ में भगवान् देवर्द्धिगणि ने दी[८०]

८० नंदी सूत्र के प्रारंभ में भगवान् देवर्द्धिगणिजी ने जो स्थविरावली दी है वह हमारे मत से माथुरी वाचनानुगत युगप्रधान स्थविरावली है, पर आचार्य्य मलयगिरिजी मेरुतुंगसूरि प्रभृति आचार्यों का कथन है कि नंदी की थेरावली महागिरि शाखीय देवर्द्धिगणि की गुरुपरंपरा मात्र है। इस विषय का मलयगिरिसूरि का उल्लेख इस प्रकार है—

"तत्र सुहस्तिन आरभ्य सुस्थितसुप्रतिबुद्धादिक्रमेणावलिका विनिर्गता सा यथा दशाश्रुतस्कंधे तथैव द्रष्टव्या, न च तयेहाधिकारः, तस्यामवलिकायां प्रस्तुताध्ययनकारकस्य देववाचकस्याभावात्, तत इह महागिर्यावलिकयाऽधिकारः।"

नंदीसूत्र टीकापत्र ४९।

अर्थात् 'सुहस्ती से शुरू होकर सुस्थित-सुप्रतिबुद्धादि क्रम से जो परंपरा निकली है वह दशाश्रुत स्कंध (कल्प की थेरावली) में लिखी गई है, पर उस का यहाँ अधिकार नहीं है, क्योंकि देववाचक (देवर्द्धिगणि) उस परंपरा के नहीं हैं। यहाँ अधिकार महागिरि की परंपरा का है।'

इसी संबंध में थेरावली टीका में आचार्य्य मेरुतुंग इस प्रकार लिखते हैं—

अत्र चायं वृद्धसंप्रदायः—स्थूलभद्रस्य शिष्यद्वयम्—आर्य्यमहागिरिः आर्य्यसुहस्ती च। तत्र आर्य्यमहागिरेर्या शाखा सा मुख्या। सा चैवं स्थविरावल्यामुक्ता—

सूरि बलिस्सह साई, सामज्जो संडिलो य जीअधरो।
अज्जसमुद्दो मंगू, नंदिल्लो नागहत्थी य॥
रेवइसिंहो खंदिल, हिमवं नागज्जुणा य गोविंदा।
सिरिभूइदिन्न—लोहिच—दूसगणिणो य देवड्ढी॥

"असौ च श्री वीरादनु सप्तविंशतमः पुरुषो देवर्द्धिगणिः सिद्धांतान् अव्यवच्छेदाय पुस्तकाधिरूढानकार्षीत्।"

मेरुतुंगीया थेरावली टीका ९।

अर्थात्—'इस विषय में वृद्ध संप्रदाय है कि स्थूलभद्र के दो शिष्य थे

१—आर्य्यमहागिरि और २—आर्य्य सुहस्ती। उनमें आर्य्य महागिरि की शाखा मुख्य थी, वह शाखा स्थविरावली में इस प्रकार कही है—बलिसहसूरि, स्वाति, श्यामाचार्य्य सांडिल्य, आर्य्यसमुद्र, मंगू, नंदिल, नागहस्ती, रेवति, सिंह, खंदिल, हिमवान्, नागार्जुन, गोविंद, भूतदिन्न, लौहित्य, दुष्यगणि और देवर्द्धि।

इन देवर्द्धिगणि ने, जो महावीर के पीछे के स्थविरों में सत्ताइसवें पुरुष थे, आगमों का विच्छेद न हो जाय इसलिये आगमों को पुस्तकों पर लिखा लिया।'

नंदी टीका के उक्त उल्लेख से हमको दो बातों की सूचना मिलती है, एक तो यह कि देवर्द्धिगणि—जिनका नामांतर देववाचक भी है—आर्य्यमहागिरिजी की शाखा के स्थविर थे और दूसरे, नंदी में जिस स्थविरावली का वर्णन किया है वह वस्तुतः देवर्द्धिगणि की गुरु-परम्परा है।

मेरुतुंग के लेख में इन बातों के उपरांत एक यह बात भी कही गई है कि देवर्द्धिगणि महावीर के पिछले स्थविरों में सत्ताइसवें पुरुष थे।

अब हम इन सूचनाओं की समालोचना करके देखेंगे कि वस्तुतः उक्त सूचनाएँ कहां तक ठीक हैं, और इनकी सत्यता में कुछ प्रमाण भी है या नहीं?

मलयगिरिजी ने नंदी की थेरावली को किस आधार से गुरुशिष्य-परंपरा माना होगा इसकी उन्होंने कुछ भी सूचना नहीं की, पर मेरुतुंग ने इस मान्यता का स्पष्ट खुलासा कर दिया है कि 'इस प्रकार का वृद्धसंप्रदाय है।'

यदि सचमुच ही मेरुतुंग के कथन के अनुसार देवर्द्धिगणि को आर्य्यमहागिरि की शाखा का स्थविर माननेवाला प्राचीन वृद्धसंप्रदाय था, तो मुझे कहना पड़ेगा कि इस संप्रदाय का सत्य होना कठिन है। आज पर्यंत जो जो उल्लेख हमारे दृष्टिगत हुए हैं उनसे तो यही साबित होता है कि देवर्द्धिगणि आर्य्यमहागिरि की शाखा के नहीं, किंतु आर्य्यसुहस्ती की परंपरागत जयंती शाखा के स्थविर थे, और नंदी के आदि में उन्होंने जिन जिन स्थविरों का उल्लेख किया है वे सब गुरुशिष्यपरंपरागत नहीं परंतु युगप्रधान-परंपरागत स्थविर थे। उनके भिन्न भिन्न गच्छ और गुरुओं के शिष्य होने पर भी एक दूसरे के पीछे युगप्रधान-पद प्राप्त होने से देवर्द्धि ने उनको क्रमशः एक-अवलिबद्ध किया है।

हमारी इस मान्यता के समर्थक अनेक कारणों में निम्नलिखित कारण मुख्य हैं—

(१) दशाश्रुतस्कंध के अष्टमाध्याय में वर्णित वीरचरित्र के अंत में वीरनिर्वाण ९८० का उल्लेख होने से मालूम होता है कि यह ग्रंथ देवर्द्धि-

गणि संकलित अथवा इनके द्वारा संस्कृत है, क्योंकि उक्त समय में ही गणिजी ने आगमों को पुस्तकारूढ़ किया था, इस स्थिति में इस अध्ययन में संगृहीत थेरावली भी देवर्द्धिगणि की गुरुपरंपरा ही हो सकती है। यद्यपि इस थेरावली के गद्यभाग में देवर्द्धि का नामनिर्देश नहीं है, पर इसी गद्य के पीछे जो इसका पद्यानुवाद दिया हुआ है उसमें—

"सुत्तत्थरयणभरिए, खमदममद्दवगुणेहिं संपन्ने ।
देविड्ढिखमासमणे, कासवगुत्ते पणिवयामि ॥ १४ ॥"

यह देवर्द्धि का निर्देश करनेवाली गाथा विद्यमान है। हो सकता है कि यह गाथा देवर्द्धिगणि की रचना न हो, पर इस थेरावली के अंत में इस गाथा का न्यास होने से यह बात तो निश्चित हो जाती है कि यह थेरावली देवर्द्धिगणि की गुरु-परंपरा है। और इस प्रकार जब देवर्द्धिगणि कल्पसूत्रोक्त थेरावली की आर्य्यसुहस्ती की परंपरा के स्थविर सिद्ध हो गए तो उन्हें आर्य्य-महागिरीय शाखा का स्थविर कहनेवाला वृद्ध संप्रदाय सत्य कैसे हो सकता है ?

(२) नंदी-थेरावली गुरु-शिष्य-परंपरा न होने का कारण यह भी है कि उसमें संभूतविजय के बाद भद्रबाहु का और महागिरि के बाद सुहस्ती का वर्णन किया गया है, यदि इसमें गुरु-शिष्य-क्रम से स्थविरों का वर्णन होता तो यहाँ संभूतविजय के पीछे उनके शिष्य स्थूलभद्र का और महागिरि के बाद उन्हीं के पट्टधर शिष्य बलिस्सह का उल्लेख होता। क्योंकि जहाँ गुरु शिष्यों की पट्ट-परम्परा की दृष्टि से पट्टावलियाँ लिखी गई हैं वहाँ संभूतविजय के पीछे उनके पट्टधर स्थूलभद्र का ही नाम लिखा गया है, महागिरि की शाखा में स्थूलभद्र के पीछे महागिरि और उनके बाद उनके शिष्य बलिस्सह का स्थान है। ऐसे ही सुहस्ती की शाखा में स्थूलभद्र, सुहस्ती, सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध इस क्रम से गुरु-परम्परा लिखी जाती थी, पर जहाँ युगप्रधानों की पट्टपरंपरा दिखाने का उद्देश होता वहाँ संभूतविजय के बाद भद्रबाहु और महागिरि के पीछे सुहस्ती का नंबर आता। हम नंदी थेरावली में देखते हैं कि देवर्द्धि ने संभूतविजय के बाद भद्रबाहु और महागिरि के बाद सुहस्ती को स्थविर माना है, इससे ज्ञात होता है कि यह थेरावली गुरु-क्रमवाली थेरावली नहीं पर युग-प्रधान क्रमवाली है।

(३) किसी भी ग्रंथ या प्रकरण के प्रारंभ में अपनी गुरु-परंपरा लिखने का और उसे वंदन करने का रिवाज नहीं था, पर ग्रंथ के अंत में ऐसी परंपरा-प्रशस्तियाँ लिखने मात्र का रिवाज था और अब भी है, ग्रंथ के प्रारंभ में उन्हीं पुरुषों का स्मरण-वंदन किया जाता था जो प्रकृत विषय के अधिक

विद्वान् और मार्गदर्शक हो गए हों, गणिजी ने नंदी में ऐसे पुरुषों की परंपरा का ही वर्णन-वंदन किया है जो अपने अपने समय में आगम के अनुयोग में सर्वश्रेष्ठ होकर युगप्रधान पद भोग चुके थे। गणिजी के अपने शब्दों से भी यही साबित हो रहा है कि नंदी में उन्होंने अपनी गुरु-परंपरा का नहीं परंतु अनुयोगधर युगप्रधान परंपरा का ही वंदन किया है। देखो थेरावली के अंतिम शब्द—

"जे अन्ने भगवन्ते, कालिअसुअआणुओगिरा धीरे।
ते पणमिऊण सिरसा, नाणस्स परूवणं वुच्छं ॥ ५० ॥"

(४) नंदी-थेरावली में स्वाति सूरि के बाद श्यामार्य्य, और नंदिल के अनंतर नागहस्ती का वर्णन है। ये दोनों आचार्य्य विद्याधर गच्छ के थे ऐसा प्रभावकचरित्र के निम्नलिखित उल्लेख से ज्ञात होता है—

"आसीत्कालिकसूरिः श्री श्रुताम्भोनिधिपारगः।
गच्छे विद्याधराख्ये आर्य्यनागहस्तिसूरयः ॥ १५ ॥"

—प्रभावकचरित्र पादलिप्त प्रबंध ४८।

यह विद्याधर गच्छ आर्य्य सुहस्तीशिष्य सुस्थित—सुप्रतिबुद्ध के शिष्य विद्याधर गोपाल से निकली हुई 'विद्याधरी' शाखा का ही पश्चाद्भावी नाम है। यदि प्रकृत थेरावली आर्य्यमहागिरीय शाखा की गुरुक्रमावली होती तो इसमें सुहस्ती की शाखा के इन दोनों स्थविरों के उल्लेख नहीं होते।

(५) इसी थेरावली में आर्य्य मंगू के अनंतर आर्य्य आनंदिल का निर्देश है। युगप्रधान पट्टावलियों के लेखानुसार आर्य्य मंगू का युगप्रधानत्व पर्याय वीर संवत् ४५१ से ४७० तक था। परन्तु आर्य आनंदिल का समय मंगू से बहुत पीछे का है, क्योंकि ये आर्यरक्षित के पश्चाद्भावी स्थविर थे। आर्यरक्षित का स्वर्गवास वीर संवत् ५९७ में हुआ था इसलिये आर्यानंदिल ५९७ के पीछे के स्थविर हो सकते हैं। इस प्रकार दूर समय में होनेवाले आर्य आनंदिल आर्य मंगू के शिष्य नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त प्रभावकचरित्र में आर्य आनंदिल को आर्य रक्षितजी का वंशज भी कहा है, देखो नीचे का श्लोक—

"आर्यरक्षितवंशीयः, स श्रीमानार्यनन्दिलः।
संसारारण्यनिर्वाहसार्थवाहः पुनातु वः ॥ १ ॥"

—प्रभावकचरित्र।

यदि यह कथन सत्य मान लिया जाय तो आनंदिल सुहस्ती की परंपरा के स्थविर होने से भी आर्य मंगू के शिष्य नहीं हो सकते।

(६) थेरावली में रेवती नक्षत्र के बाद ब्रह्मद्वीपिक सिंह का उल्लेख है। पर यह कहने की शायद ही जरूरत होगी कि ब्रह्मद्वीपिका शाखा सुहस्ती की

परंपरा के स्थविर आर्यसमित से निकली थी, और सिंह इसी ब्रह्मद्वीपिका शाखा के स्थविर थे—ऐसा स्वयं देवर्द्धि के लेख से ही सिद्ध है, तो अब यह देखना चाहिए कि यदि देवर्द्धि की थेरावली महागिरि शाखा की गुर्वावली होती तो उसमें अन्य शाखा के स्थविर सिंह का उल्लेख क्यों किया जाता ?

(७) सिंह के अनंतर थेरावली में स्कंदिल का वर्णन है, परंतु ये स्कंदिल भी प्रभावकचरित्र आदि ग्रंथों के लेखों से विद्याधर गच्छ के स्थविर थे ऐसा सिद्ध होता है। (देखो टिप्पण नं० ७२)

विद्याधर गच्छ सुहस्ती की शाखा में था यह बात पहले ही कह दी गई है, यदि नंदी थेरावली महागिरिशाखीय स्थविरों की गुरु-परंपरा होती तो उसमें स्कंदिल को स्थान नहीं मिलता।

(८) प्रस्तुत थेरावली में ही देवर्द्धिगणि भूतदिन्न स्थविर के वर्णन में लिखते हैं कि 'भूतदिन्न सूरि नागार्जुन ऋषि के शिष्य और नाइल-कुल-वंश की वृद्धि करनेवाले हैं' देखो थेरावली की निम्नलिखित गाथा में—

"अड्ढभरहप्पहाणे, बहुविहसज्झायसुमुणियपहाणे।
अणुओगियवरवसभे, नाइलकुलवंसनंदिकरे ॥ ४४ ॥
जगभूयहि (हिय) पगब्भे, वंदेऽहं भूयदिन्नमायरिए।
भवभयवुच्छेयकरे, सीसे नागज्जुणरिसीणं ॥ ४५ ॥"

—नंदी थेरावली सूत्र २।

उपर्युक्त नाइल कुल हमारे विचार में नाइली शाखा का ही नाम है। कतिपय लेखकों ने नाइल कुल का तर्जुमा 'नागेंद्र कुल' भी किया है, पर 'नाइल' का रूप 'नागेंद्र' होने के लिये कोई लाक्षणिक नियम नहीं है। कहीं कहीं 'नाइल' के स्थान में 'नागिल' शब्द प्रयुक्त हुआ देखा गया है और यह ठीक भी है। वस्तुतः 'नाइला' शाखा के लिये, जो कि आर्य वज्रसेन के शिष्य आर्य नाइल से निकली थी, पीछे से नाइलकुल, नाइलगच्छ आदि नाम प्रचलित हुए थे। इसलिये स्थविरावली में जो 'नाइलकुल' का उल्लेख है उसका तात्पर्य सुहस्ती शाखानुगत 'नाइला' शाखा से ही है और नाइलकुल को नागेंद्र कुल मान लिया जाय तब भी बात वही है, क्योंकि नागेंद्रकुल भी सुहस्ती शाखानुगत ही है, इसलिये नाइलकुल या नागेंद्रकुल के स्थविर भूतदिन्न और इनके गुरु नागार्जुन सूरि देवर्द्धि के वचन से ही सुहस्ती की परंपरा के सिद्ध होते हैं, यदि देवर्द्धि महागिरि शाखा के स्थविर होते और उन्होंने नंदी में अपनी गुर्वावली का ही वर्णन किया होता तो नागार्जुन और भूतदिन्न आचार्य का यहाँ उल्लेख नहीं किया जाता।

ऊपर के विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि नंदी की थेरावली देवर्द्धि की गुर्वावली नहीं है, किंतु भिन्न भिन्न शाखा और कुल के आचार्यों की युगप्रधानावली है। इसलिये इस थेरावली के आधार पर देवर्द्धिगणि को आर्य महागिरि की शाखा में मानने और इस थेरावली को देवर्द्धि की गुर्वावली मानने का जो वृद्ध संप्रदाय है वह किसी अवस्था में सत्य नहीं हो सकता।

देवर्द्धिगणि को सत्ताईसवाँ पुरुष कहना भी हमारी समझ में कुछ प्रामाणिकता नहीं रखता। क्योंकि युगप्रधान-क्रम से देवर्द्धिगणि ३२ वें युगप्रधान और गुरुशिष्यक्रम में ३४ वें पुरुष थे। यद्यपि मलयगिरि-व्याख्यात नंदी-थेरावली में बलिस्सह के पहले सुहस्ती का नाम शामिल रख और 'गोविंद' का नाम कम करके देवर्द्धि को सत्ताईसवाँ पुरुष ठहराया है, और मेरुतुंग संगृहीत थेरावली गाथाओं में सुहस्ती को कम करके गोविंद का नाम कायम रखकर देवर्द्धि को सत्ताईसवाँ नंबर दिया है, पर हम देखते हैं कि इन दोनों पद्धतियों में एक महत्त्वपूर्ण भूल घुसी हुई है। दोनों थेरावलीकार आर्य मंगू के अनंतर आनंदिल का उल्लेख करते हैं—यह एक स्पष्ट भूल है, क्योंकि मंगू का युगप्रधानत्वकाल तो निर्वाण संवत् ४७० में ही पूरा हो गया था, तब आनंदिल का युगप्रधानत्व पर्याय निर्वाण से ५९७ वर्ष के बाद किसी समय में शुरू हुआ था। अब देखना चाहिए कि मंगू से कम से कम १२७ वर्ष पीछे होनेवाले आर्य आनंदिल मंगू के उत्तराधिकारी युगप्रधान कैसे हो सकते हैं? इस गड़बड़ का अर्थ हम यही करेंगे कि आर्य मंगू और आनंदिल के बीच के कतिपय युगप्रधानों के नाम इन सूचियों में से छूट गए हैं, इन छूटे हुए नामों का पता भी हम आसानी से लगा सकते हैं। हमारे पास एक सटीक और एक मूल मात्र नंदी की थेरावली है। इन दोनों में आर्य मंगू के पीछे आर्य धर्म, भद्रगुप्त, वज्र और आर्य रक्षित के वर्णन की नीचे लिखित गाथाएँ उपलब्ध होती हैं—

"वंदामि अज्जधम्मं, वंदे तत्तो अ भद्दगुत्तं च।
तत्तो अ अज्जवयरं, तवनियमगुणेहिं वयरसमं ॥ ३१ ॥
वंदामि अज्जरक्खिय-खमणे रक्खिअचरित्त सव्वस्से।
रयणकरंडगभूओ, अणुओगो रक्खिओ जेहिं ॥ ३२ ॥"

—मूल नंदी थेरावली २।

आचार्य मेरुतुंग के एक उल्लेख से भी ज्ञात होता है कि उनके समय में उक्त गाथाएँ नंदी की थेरावली में मौजूद थीं, देखो निम्नलिखित उल्लेख—

"स्थविरावल्यां तु आर्यमंगोः परोऽनु आर्यधर्म-भद्रगुप्त-वज्रस्वामि-आर्यरक्षिताभिधाश्चत्वारोऽप्यत्र अपि तस्मिन् समये प्रधानपुरुषा इत्युपात्ताः।"

—विचारश्रेणि पत्र ५।

आर्य गोविंद के वर्णन की निम्नलिखित गाथा भी हमारी थेरावली में दृष्टिगत होती है—

"गोविंदाणं पि नमो, अणुओगे विउलधारिणिंदाणं।
निच्चं खंतिदयाणं, परूवणादुल्लभिंदाणं ॥ ४१ ॥"

—मूल नंदी थेरावली २।

मलयगिरि की व्याख्यात नंदी थेरावली में उक्त तीनों गाथाएँ नहीं हैं और संभव है दूसरी टीकाओं में भी ये न हों, पर ये गाथाएँ हैं देवर्द्धिकृत। जिस प्रकार वालभी वाचना के अनुयायियों ने युगप्रधान गंडिका प्रभृति प्रकीर्णक ग्रंथों में अपनी परंपरागत युगप्रधानावली का क्रम दिया है उसी प्रकार देवर्द्धि जी ने भी इस थेरावली में माथुरी वाचनानुयायी युगप्रधान-थेरावली का वर्णन किया है, इसमें कुल ३१ युगप्रधानों का क्रम वर्णित है, पर जब से देवर्द्धि को २७ वाँ पुरुष मानने की दंतकथा प्रचलित हुई तब से इस थेरावली में धर्म, भद्रगुप्त, वज्र, आर्य्यरक्षित और गोविंद के वर्णन की गाथाएँ प्रक्षिप्त समझी जाकर निकाल दी गईं। वस्तुतः उक्त गाथाएँ नंदी की ही हैं और इस हिसाब से देवर्द्धि २७ वें नहीं पर ३२ वें युगप्रधान ठहरते हैं।

दशाश्रुतस्कंधोक्त थेरावली में आर्य्यसुहस्ती की परंपरा में देवर्द्धि का नाम आने से वे इसी शाखा के स्थविर थे यह बात मान लेने में कुछ भी विरोध नहीं है, और इस थेरावली की गणना के अनुसार देवर्द्धिगणि २७ वें नहीं किंतु ३४ वें पुरुष प्रतीत होते हैं। पाठकगण के दर्शनार्थ हम दशाश्रुतस्कंधोक्त देवर्द्धिगणि की गुरु परंपरा नीचे लिख देते हैं—

देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की गुर्वावली

श्री महावीर

१	आर्य सुधर्मा		९	आर्य	सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध
२	,,	जंबू	१०	,,	इंद्रदिन्न
३	,,	प्रभव	११	,,	दिन्न
४	,,	शय्यंभव	१२	,,	सिंहगिरि
५	,,	यशोभद्र	१३	,,	वज्र
६	,,	संभूतविजय-भद्रबाहु	१४	,,	रथ
७	,,	स्थूलभद्र	१५	,,	पुष्यगिरि
८	,,	सुहस्ती	१६	,,	फल्गुमित्र

१७	आर्य	धनगिरि	२६	आर्य	संपलित-भद्र
१८	,,	शिवभूति	२७	,,	वृद्ध
१९	,,	भद्र	२८	,,	संघपालित
२०	,,	नक्षत्र	२९	,,	हस्ती
२१	,,	रक्ष	३०	,,	धर्म
२२	,,	नाग	३१	,,	सिंह
२३	,,	जेहिल	३२	,,	धर्म
२४	,,	विष्णु	३३	,,	सांडिल्य
२५	,,	कालक	३४	,,	देवर्द्धिगणि

इस गुरुक्रमावली से ज्ञात होगा कि देवर्द्धिगणि ३४ वें पुरुष थे और वे आर्य सांडिल्य के शिष्य थे। आचार्य मलयगिरिजी इनको दूष्यगणि के शिष्य लिखते हैं (दूष्यगणि शिष्यो देववाचकः)। प्रसिद्धि में भी देवर्द्धिगणि दूष्यगणि के ही शिष्य कहलाते हैं पर हम समझ सकते हैं कि मलयगिरिजी का उल्लेख और उक्त प्रसिद्धि नंदी थेरावली को देवर्द्धि की गुरुक्रमावली मान लेने का ही फल है और जब हम यह देख चुके हैं कि नंदी थेरावली देवर्द्धि की गुरुपट्टावली नहीं है, तब उसके आधार पर यह कैसे मान लें कि देवर्द्धिगणि दूष्यगणि के शिष्य थे। कल्प थेरावली में भी दूष्यगणि का नामनिर्देश नहीं है, पर वहाँ अंत्यनाम सांडिल्य का है, इससे जाना जाता है कि देवर्द्धिगणि के दीक्षागुरु आर्य सांडिल्य ही होने चाहिएँ। नंदी में देवर्द्धि के पहले दूष्यगणि का नाम होने का अर्थ यह हो सकता है कि वे देवर्द्धिगणि के पुरोगामी युगप्रधान होंगे।

देवर्द्धिगणि की गुर्वावली का कोष्ठक ऊपर दिया जा चुका है, अब हम नंदी थेरावली में दी हुई माथुरी वाचनानुसारिणी युगप्रधान पट्टावली को अवतरित करेंगे जिसमें पाठकगण देख सकेंगे कि देवर्द्धिगणि को हम ३२ वाँ युगप्रधान किस प्रकार मानते हैं।

माथुरी युगप्रधान पट्टावली

भगवान् महावीर

१	आर्य	सुधर्मा	७	आर्य	भद्रबाहु
२	,,	जंबू	८	,,	स्थूलभद्र
३	,,	प्रभव	९	,,	महागिरि
४	,,	शय्यंभव	१०	,,	सुहस्ती
५	,,	यशोभद्र	११	,,	बलिस्सह
६	,,	संभूतविजय	१२	,,	स्वाति

है, और दूसरी वालभी—जो युगप्रधान पट्टावलि के नाम से प्रसिद्ध है।[८१]

१३ आर्य श्यामार्य	२३ आर्य रेवतिनक्षत्र
१४ ,, सांडिल्य	२४ ,, ब्रह्मद्वीपक सिंह
१५ ,, समुद्र	२५ ,, स्कंदिलाचार्य
१६ ,, मंगु	२६ ,, हिमवंत
१७ ,, आर्यधर्म	२७ ,, नागार्जुन
१८ ,, भद्रगुप्त	२८ ,, गोविंद
१९ ,, वज्र	२९ ,, भूतदिन्न
२० ,, रक्षित	३० ,, लौहित्य
२१ ,, आनंदिल	३१ ,, दूष्यगणि
२२ ,, नागहस्ती	३२ ,, देवर्द्धिगणि

८१ युगप्रधान पट्टावली के नाम से प्रसिद्ध जो जो स्थविरावलियां आजकल उपलब्ध होती हैं वे सब वालभी वाचनानुयायी युगप्रधान स्थविरावलियाँ हैं, इनमें माथुरी वाचना के प्रवर्तक स्कंदिलाचार्य का नामोल्लेख तक नहीं है। इसमें स्कंदिल और हिमवंत के युगप्रधानत्व समय को भी नागार्जुन के समय में मान लिया मालूम होता है, क्योंकि मेरुतुंग के कथन के अनुसार स्कंदिल-हिमवंत और नागार्जुन के मिलकर ७८ वर्ष होते हैं पर इन पट्टावलियों में स्कंदिलहिमवंत का कुछ भी निर्देश न करके ७८ वर्ष अकेले नागार्जुन के पर्याय के मान लिए गए हैं।

माथुरी वाचना का अनुसरण करनेवाले देवर्द्धिगणि का भी इसमें उल्लेख नहीं है तथा इस स्थविरावली में आर्य रक्षितजी का युगप्रधानत्व काल निर्वाण संवत् ५८५ से ५९७ तक माना गया है। इन सब बातों का विचार करने के बाद हमने यह निश्चय किया है कि युगप्रधान गंडिका दुष्षमा संघ-स्तोत्र आदि में जिन युगप्रधान पट्टावलियों का निरूपण किया गया है वे सब नागार्जुनीय-वालभी वाचनानुगत स्थविरावलियां हैं। आर्य सुहस्ती पर्यंत माथुरी थेरावली के साथ इस पट्टावली का कोई मतभेद नहीं है पर उसके बाद कहीं कहीं भिन्नता आ गई है और आर्य रक्षित के पीछे तो इनकी भिन्नता और भी बढ़ गई है। माथुरी की गणना के अनुसार आर्य रक्षित जी २० वें स्थविर थे, वे निर्वाण संवत् ५८४ में स्वर्गवासी हुए और इनके पीछे ३९६ वर्ष में देवर्द्धि सहित १२ युगप्रधान हुए और देवर्द्धि ने ९८० में पुस्तकोद्धार किया, पर वालभी परंपरानुसार आर्यरक्षित १९ वें युगप्रधान थे और निर्वाण संवत् ५९७ में वे स्वर्गवासी हुए थे, इनके पीछे ३९६ वर्ष में कालकपर्यंत ८ युग-

प्रधान हुए और कालकाचार्य के अंतिम वर्ष निर्वाण संवत् ९९३ में वालभी में पुस्तकोद्धार हुआ। माथुरी और वालभी गणना में निर्वाण संवत् विषयक १३ वर्ष का मतभेद था यह बात इसी लेख में आगे जाकर कही जायगी। इसलिये उपर्युक्त माथुरी के ९८० और वालभी के ९९३ वर्ष वस्तुतः एक ही समय के सूचक भिन्न भिन्न अंक हैं। इससे एक बात स्पष्ट होती है, वह यह कि माथुरी वाचनानुयायी देवर्द्धिगणि और वालभी वाचनानुसारी कालकाचार्य एक ही समय में दो व्यक्ति थे, पर विशेषता यह है कि देवर्द्धि माथुरी थेरावली के ३२ वें पुरुष थे तब कालकाचार्य वालभी युगप्रधानावली के २७ वें युगप्रधान पुरुष थे। क्या आश्चर्य्य है, कालक के २७ वें पुरुष होने से ही इनके सम-कालीन देवर्द्धिगणि के संबंध में भी २७ वें पुरुष होने की प्रसिद्धि चल पड़ी हो।

माथुरी युगप्रधानावली का क्रम ऊपर दिया जा चुका है, अब हम वालभी युग-प्रधान थेरावली के देवर्द्धिगणि के समय तक के युगप्रधानों का क्रम लिखेंगे जिसमें जिज्ञासु गण देख सकें कि इन दोनों परंपराओं में एकता और भिन्नता कहाँ कहाँ है।

वालभी युगप्रधान पट्टावली

	भगवान् महावीर			१५	आर्य	मंगु	२०
१	आर्य	सुधर्मा	२०	१६	,,	धर्म	२४
२	,,	जम्बू	४४	१७	,,	भद्रगुप्त	४१
३	,,	प्रभव	११	१८	,,	वज्र	३६
४	,,	शय्यंभव	२३	१९	,,	रक्षित	१३
५	,,	यशोभद्र	५०	२०	,,	पुष्यमित्र	२०
६	,,	संभूतविजय	८	२१	,,	वज्रसेन	३
७	,,	भद्रबाहु	१४	२२	,,	नागहस्ती	६९
८	,,	स्थूलभद्र	४६	२३	,,	रेवति मित्र	५९
९	,,	महागिरि	३०	२४	,,	सिंहसूरि	७८
१०	,,	सुहस्ती	४५	२५	,,	नागार्जुन	७८
११	,,	गुणसुंदर	४४	२६	,,	भूतदिन्न	७९
१२	,,	कालकाचार्य	४१	२७	,,	कालकाचार्य	११
१३	,,	स्कंदिलाचार्य	३८				
१४	,,	रेवतिमित्र	३६				९८१

उपर्युक्त पट्टावली के संबंध में हमें दो चार बातों का खुलासा करना जरूरी है, क्योंकि यह हमारी संशोधित पट्टावली है। प्रचलित अधिकतर पट्टावलियों में आर्य मंगु का नाम नहीं मिलता और आर्य धर्म का युग-

आर्य सुहस्ती तक ये दोनों स्थविरावलियाँ एक मार्ग पर चलती हैं, पर इसके आगे कहीं कहीं भिन्न मार्ग भी पकड़ लेती हैं।

आर्य रक्षित सूरि पर्यंत इन दोनों स्थविरावलियों का विधान इस प्रकार है—

माथुरी आर्य सुहस्ती के पीछे आर्य महागिरि के शिष्य बलिसह और इनके बाद स्वाति नामक आचार्य को संघ-स्थविर स्वीकार करती है, पर वालभी इन दोनों की जगह गुणसुंदर नामक किसी अप्रसिद्ध श्रुतस्थविर को यह पद देती है। इन गुणसुंदर का वालभी स्थविरावली के सिवाय कहीं भी नामोल्लेख नहीं मिलता। संभव है, राजा संप्रति की प्रेरणा से दक्षिण में सुदूर तक धर्मप्रचारार्थ जानेवाले आर्य सुहस्ती के किसी शिष्य समुदाय के ये गुणसुंदर मुखिया होंगे।[८२]

प्रधानत्व काल ४४ वर्ष प्रमाण लिखा जाता है, तब हमने इसमें मंगु और धर्म दोनों को स्वतंत्र युगप्रधान माना है और भद्रगुप्त का युगप्रधानत्व ४१ वर्ष का मानकर इनके पीछे जो श्रीगुप्त का नाम लिखा मिलता है उसे निकालकर वालभी गणना में से १३ वर्ष कम कर दिए हैं इस कारण से कालकाचार्य का स्वर्गवास ९८१ में बताया है, अन्यथा प्रचलित वालभी गणनानुसार कालक का अंतिम वर्ष ९९७ में आता। इन सब बातों की चर्चा ऊपर मूल लेख में कर दी गई है इसलिये यहाँ विशेष चर्चा नहीं की जाती।

८२ आचार्य मेरुतुंग गुणसुंदर के संबंध में टीका करते हुए लिखते हैं कि 'दोनों शाखाओं में आर्य सुहस्ती के बाद गुणसुंदर और श्यामाचार्य के बाद स्कंदिल दृष्टिगोचर नहीं होते तो भी संप्रदाय इसी तरह का होने से इनका यहाँ निर्देश किया गया है।' देखो मेरुतुंग के इस विषय के शब्द—

"एवं चाऽत्र शाखाद्वयेऽप्यार्यसुहस्तिनोऽनुगुणसुंदरः श्यामार्यादनु स्कंदिलाचार्यश्च न दृश्यते, तथाऽप्यत्र संप्रदाये दृष्टावतस्तावेव प्रोक्तौ।"

—विचारश्रेणि पत्र ९।

मेरुतुंग के इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि वे माथुरी थेरावली को आर्य महागिरि की शाखा और वालभी थेरावली को आर्य सुहस्ती की शाखा समझते थे। मेरुतुंग जिस संप्रदाय का इशारा करते हैं वह युगप्रधान पट्टावलीकारों का संप्रदाय है। युगप्रधान पट्टावलियों में गुणसुंदर और स्कंदिलाचार्य का नाम है, पर मेरुतुंग के विचार में नंदी थेरावली आर्य महागिरीय शाखा की पट्टावली है और दशाश्रुतस्कंधोक्त थेरावली आर्य सुहस्ती

माथुरी स्थविरावली या अन्य किसी ग्रंथ में गुणसुंदर का उल्लेख न होना भी यही साबित करता है कि ये किसी दूर प्रांत में प्रसिद्धि पाए हुए स्थविर होने चाहिएँ।

इस प्रकार बलिसह और स्वाति के स्थान में अकेले गुणसुंदर को मान लेने से वालभी स्थविरावली में एक नंबर कम हो जाता है।

आगे दोनों में श्यामार्य और संडिल युगप्रधान माने गए हैं।

संडिल के बाद माथुरी में आर्यसमुद्र को और वालभी में रेवती-मित्र को संघस्थविर माना है।

इसके आगे दोनों में आर्य मंगू, आर्य धर्म और भद्रगुप्त स्थविर गिने गए हैं।

माथुरी में भद्रगुप्त के पीछे वज्र और वज्र के बाद आर्यरक्षित का नंबर है, तब वालभी में भद्रगुप्त के पीछे १५ वर्ष तक श्रीगुप्त को संघस्थविर माना है, और इनके पीछे ३६ वर्ष वज्र के और वज्र के बाद आर्यरक्षित का स्थान है।

व्यक्तीकरण इस प्रकार है—

माथुरी के अनुसार	वालभी के अनुसार
१० आर्य सुहस्ती	१० आर्य सुहस्ती
११ बलिसह	११ गुणसुंदर
१२ स्वाति	१२ श्यामार्य

की पट्टावली, इन दोनों शाखाओं की पट्टावलियों में उक्त स्थान पर गुणसुंदर और स्कंदिल का नाम न होने से वे संप्रदाय का सहारा लेते हैं, पर वस्तु-स्थिति इससे भिन्न है। "सूरि बलिस्सह" से आरंभ होनेवाली शाखा माथुरी युगप्रधान पट्टावली है और गुणसुंदर से प्रारंभ होनेवाली वालभी युगप्रधान स्थविरावली। पहली में श्यामार्य के पीछे संडिल का नाम है ही, और दूसरी में भी सुहस्ती के पीछे गुणसुंदर युगप्रधान का नाम सभी थेरावलियों में है ही; इसलिये इस विषय में संप्रदाय का सहारा लेने की कोई जरूरत नहीं है। 'सुट्ठिय सुप्पडि बुद्ध' से आरंभ होनेवाली परंपरा में गुण-सुंदर का नाम न होना स्वाभाविक है, क्योंकि यह सुहस्ती की शिष्यपरंपरा है, न कि युगप्रधान-परंपरा।

१३ श्यामार्य	१३ खंदिल
१४ सांडिल्य	१४ रेवतिमित्र
१५ आर्यसमुद्र	१५ आर्यमंगू
१६ आर्यमंगू	१६ आर्यधर्म
१७ आर्यधर्म	१७ भद्रगुप्त
१८ भद्रगुप्त	१८ श्रीगुप्त
१९ आर्यवज्र	१९ आर्यवज्र
२० आर्यरक्षित	२० आर्यरक्षित

इस प्रकार दोनों स्थविरावलियों में आर्यरक्षित का नंबर २० वाँ है। पर वालभी गणना के लिये आर्यरक्षित का २० वाँ नंबर आना एक विरुद्ध घटना है, क्योंकि इस वाचनानुसारिणी युगप्रधान गंडिका, दुष्षमासंघ स्तोत्र आदि समग्र स्थविरावलियों और एतत्संबंधी यंत्रों में आर्यरक्षित को १९ वाँ स्थविर लिखा है, इससे यह बात निश्चित है कि इस वालभी गणना में एक स्थविर का नाम अधिक प्रक्षिप्त हो गया है।

आचार्य मेरुतुंग इस विषय में कहते हैं—

"इह केपि मंगु-धर्मयोर्नाम्नैव भेदमाहुः। तन्मते आर्यधर्मस्य वर्षाणि ४४।"

—विचारश्रेणी ५।

अर्थात् 'कोई आचार्य मंगू और धर्म में नाम का ही भेद मानते हैं, याने मंगू और धर्म ये एक ही व्यक्ति के दो नाम कहते हैं, उनके मत में आर्यधर्म के ४४ वर्ष होंगे।'

इस कथन के अनुसार आर्य मंगू का नाम कम करने से आर्यरक्षित का नंबर १९ वाँ हो सकता है, पर हम देखते हैं कि देवर्द्धिगणिजी ने नंदी की स्थविरावली में—

"भणगं करगं झरगं पभावगं णाणदंसणगुणाणं।
वंदामि अज्जमंगुं, सुयसागरपारगं धीरं ॥ ३० ॥
वंदामि अज्जधम्मं, वंदे तत्तो अ भद्दगुत्तं च।"

इस तरह आर्यमंगू और धर्म का जुदा जुदा वंदन किया है। अन्य शास्त्रों से भी मंगू और धर्म की भिन्नता प्रगट होती है, इसलिये हमारे मत में मंगू और धर्म को एक मानना निराधार ही नहीं, शास्त्रविरुद्ध भी है।

मेरे नम्र अभिप्राय से तो मंगू का नहीं, पर भद्रगुप्त के बाद श्रीगुप्त का नाम वालभी स्थविरावली में अधिक प्रक्षिप्त हो गया है।

माथुरी स्थविरावली में भद्रगुप्त के पीछे सीधा आर्यवज्र का ही स्थान है।

निम्नलिखित घटनाएँ भी श्रीगुप्त के प्रक्षिप्तपन की ही सूचक हैं—

'आर्यरक्षित ने पूर्वश्रुत का अध्ययन करने के लिये आर्यवज्र की ओर विहार किया, इस बीच में उज्जयिनी में उन्हें स्थविर भद्रगुप्त मिले और उन्होंने अपने अनशननिर्यामणा के लिये आर्यरक्षितजी को रोका। भद्रगुप्त के स्वर्गवास के बाद रक्षितार्य वज्रस्वामी के पास गए और पूर्वश्रुत का अध्ययन किया।'[८३]

वालभी स्थविरावली में भद्रगुप्त का स्वर्गवास निर्वाण संवत् ५३३ में हुआ लिखा है और आर्य रक्षित की दीक्षा ५४४[८४] में। अब

---

८३ आर्यरक्षितजी की दीक्षा, पूर्वश्रुताध्ययन के निमित्त—आर्य वज्र की ओर विहार, उज्जयिनी में स्थविरभद्रगुप्त का मिलाप, रक्षितार्य के द्वारा भद्रगुप्त की निर्यामणा और वज्र के पास रक्षितार्य का पूर्वश्रुत पठन इत्यादि बातों को सविस्तर जानने के लिये जिज्ञासुओं को आवश्यक नियुक्ति की "देविंदवंदिएहिं" इस गाथा की चूर्णि (पृष्ठ ३३७ से ४१५ तक) या टीका देखनी चाहिए।

८४ वालभी थेरावली की "रेवइमित्ते छत्तीस" इस गाथा में आर्य मंगू का स्वर्गवास निर्वाण संवत् ४७० के अंत में बताया है और उसके बाद "चउवीस अज्जधम्मे" इस गाथा में २४ वर्ष आर्य धर्म के और ३९ वर्ष भद्रगुप्त के लिखे हैं, इस हिसाब से (४७० + २४ + ३९ = ५३३) पाँच सौ तेंतीसवें वर्ष में भद्रगुप्त का स्वर्गवास प्राप्त होता है। उधर इसी पट्टावली के—

"सिरिगुत्तिपनरवइरे, छत्तीसं एव पणचुलसी॥
तेरसवासाणि सिरिअज्जरक्खिए"

देखना चाहिए कि ५४४ में दीक्षित होनेवाले आर्यरक्षितजी ५३३ में भद्रगुप्त की निर्यामणा किस तरह करा सकते हैं ? [८५]

इस लेखानुसार निर्वाण संवत् ५८४ में आर्य वज्र का स्वर्गवास होने पर आर्यरक्षित जी युगप्रधान बनते हैं और ५९७ पर्यंत १३ वर्ष तक वे युगप्रधान पद पर रहते हैं। वालभी थेरावली में ही आर्य रक्षित का सामान्य श्रमण पर्याय ४० वर्ष का लिखा है, ये ४० वर्ष ५८४ में से निकाल देने पर ५४४ वर्ष बचेंगे जो कि आर्य रक्षितजी का दीक्षा-समय होगा।

८५ यह असंगति उपाध्याय धर्मसागरजी के भी लक्ष्य में थी पर उनको इसकी संगति करने का कोई रास्ता नहीं सूझा, वे इस शंका को बहुश्रुतों के सुपुर्द करके ही रह गए हैं, सागरजी का उक्त शंकास्थल नीचे दिया जाता है—

"तत्र श्रीवीरात् त्रयस्त्रिंशदधिकपञ्चशत ५३३ वर्षे श्रीआर्यरक्षितसूरिणा श्रीभद्रगुप्ताचार्यो निर्यामितः स्वर्गभागिति पट्टावल्यां दृश्यते, परं दुष्षमासंघस्तव यंत्रकानुसारेण चतुश्चत्वारिंशदधिकपञ्चशत ५४४ वर्षातिक्रमे श्रीआर्यरक्षितसूरीणां दीक्षा विज्ञायते तथा चोक्तसंवत्सरे निर्यामणं न संभवतीत्येतद् बहुश्रुतगम्यम् ॥"

—धर्मसागरीय तपागच्छपट्टावली प० ४।

सागरजी की इस शंका का समाधान यही है कि भद्रगुप्त का निर्यामणा सं० ५३३ में नहीं पर ५३५ में हुआ था, पट्टावलियों में जो ५३३ वर्ष लिखे हैं वे मतांतर से भद्रगुप्त के युग-प्रधानपद-निक्षेप के हैं, अर्थात् किसी के मत से ५३३ में भद्रगुप्त ने युगप्रधान पद छोड़ा और ५३५ में वे आर्यरक्षित से निर्यामणा पाकर स्वर्गवासी हुए, पर हमारे मत से भद्रगुप्त वी० सं० ५३५ तक युगप्रधान रहे थे, उनके बाद १५ वर्ष तक जो श्रीगुप्त नामक युगप्रधान का समय माना गया है वह वस्तुतः प्रक्षिप्त है। इसलिये प्रस्तुत गणना में से इसे निकाल देना चाहिए, ऐसा करने पर फलितार्थ-स्वरूप वी० सं० ५३५ में भद्रगुप्त का स्वर्गवास तथा आर्य वज्र का युगप्रधान पद, ५७१ में आर्यवज्र का स्वर्गवास तथा आर्य रक्षित का युगप्रधान पद और ५८४ में आर्य रक्षित का स्वर्गवास तथा पुष्यमित्र का युगप्रधानपद आयगा। माथुरी वाचनानुसारी आवश्यक निर्युक्ति में आर्य रक्षित का स्वर्गवास वीर सं० ५८४ में ही लिखा है। आर्य रक्षितजी का कुल श्रमणत्व पर्याय ५३ वर्ष का था इसलिये पूर्वोक्त ५८४ में से ५३ वर्ष निकाल देने पर उनका दीक्षा समय वीर सं० ५३१ में आयगा, इस हिसाब से आर्य रक्षित ने वी० सं० ५३० में दीक्षा ली और अपने ही दीक्षागुरु तोसलिपुत्राचार्य के पास ५ वर्ष तक अभ्यास करके सं० ५३५ में वे वज्र स्वामी के पास अभ्यास करने के लिये निकले, बीच में

इस विरोध से यह बात तो स्पष्ट हो जाती है कि भद्रगुप्त के बाद आर्यरक्षित के पहले के समय की गणना में ही कहीं गड़बड़ हो गई है, और इस गड़बड़ का कारण हमारी समझ में वालभी स्थविरावली में भद्रगुप्त के पीछे श्रीगुप्त के समय को भिन्न मानना—यही हो सकता है।

माथुरी वाचनानुगत आवश्यक निर्युक्ति और चूर्णि के मत से आर्यरक्षितजी का स्वर्गवास निर्वाण संवत् ५८४ में हो जाता है,[८६] पर वालभी स्थविरावली में इनका स्वर्गवास वीर संवत् ५९७ में होना लिखा है।[८७] आचार्य देवर्द्धिजी ने कल्पसूत्र में निर्वाण विषयक १३ वर्ष का जो मत-भेद सूचित किया है उसका यह प्रत्यक्ष उदाहरण है।

यदि भद्रगुप्त का युगप्रधानत्व पर्याय ३९ के स्थान में ४१ वर्ष का मान लिया जाता—जैसा कि वालभी स्थविरावली की ही एक गाथा

उज्जयिनी में उन्हें भद्रगुप्त मिले और उनको निर्यामणा कराया, इस प्रकार १३ वर्ष का क्षेपक प्रस्तुत गणना में से निकाल देने पर उपाध्याय धर्मसागरजी की बहुश्रुतगम्य शंका का निराकरण स्वयं हो जाता है।

८६ आवश्यक चूर्णि, उत्तराध्ययन टीका आदि में निह्नवोत्पत्ति अधिकार में गोष्ठामाहिल निह्नव की उत्पत्ति भी विस्तारपूर्वक लिखी गई है जिसका सार यही है कि 'आर्य रक्षितजी का स्वर्गवास हुआ उसी वर्ष दशपुर नगर में गोष्ठामाहिल ने 'अबद्धिक' मत निकाला। गोष्ठामाहिल का अबद्धिक-मत आवश्यक निर्युक्ति के लेखानुसार वीर सं० ५८४ में निकला था, देखो निम्नलिखित गाथा—

> "पंच सया चुलसीया, तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स।
> सो अबद्धियदिट्ठी, दसउरनयरे समुप्पन्ना ॥ २६५ ॥"
>
> —आवश्यक निर्युक्ति।

इस प्रकार जब गोष्ठामाहिल के मत की उत्पत्ति ५८४ में है तो इसके पूर्व भावी आर्य रक्षितजी का स्वर्गवास-समय भी ५८४ में ही हो सकता है, पीछे नहीं।

८७ इसके लिये टिप्पण नं० ८४ देखो।

में लिखा है,[८८] और गणना में से श्रीगुप्त के १५ वर्ष—जो प्रक्षिप्त हैं—कम कर दिए जाते तो उक्त सब विरोध मिट जाता और—

"अयं असीइमें संवच्छरे काले गच्छइ"

—इस मान्यतावाली माथुरी वाचना के साथ—

"वायणंतरे पुण अयं तेणउए संवच्छरे काले गच्छइ"

—इस आशयवाली वालभी वाचना एकरूप हो जाती।

एक ही भूल का परिणाम

अब हम उस भूल के संबंध में कुछ लिखेंगे, जो चिरकाल से हमारी राजत्वकालगणना में चली जा रही है, और जिसके कारण जैन इतिहास की अनेक सत्य घटनाएँ विद्वानों की दृष्टि में शंकित

---

८८ आचार्य मेरुतुंग ने अपनी विचार श्रेणि में प्रथम उदय के युग-प्रधानों का गृहस्थ-सामान्यश्रमण-युग प्रधानत्व-पर्याय बतानेवाली स्थविरावली की जो गाथाएँ दी हैं उनमें स्कंदिल, रेवतीमित्र, धर्म, भद्रगुप्त, श्रीगुप्त और वज्र का क्रमशः युगप्रधानत्व पर्याय बतानेवाला गाथा खंड इस प्रकार है—

"अडतीसा छत्तीसा चउचत्तिगयाल पनरछत्तीसा।"

इसमें भद्रगुप्त का युगप्रधानत्व समय बतानेवाला शब्द "इगयाल" है, इसका संस्कृत पर्याय "एकचत्वारिंशत्" है, जो ४१ संख्या का वाचक है। यहाँ मूल शब्द "इगुणयाल" होगा ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा मानने पर गाथा में "चउचत्तिगुणयाल" ऐसा रूप होगा जो छंदोभंग होने के कारण प्रत्यक्ष अशुद्ध है। प्रस्तुत थेरावली गाथा में "इगुणयाल" के स्थान जो "इगयाल" शब्द आ पड़ा है वह अवश्य ही कारणिक है और जहाँ तक मेरा खयाल है इसका कारण भद्रगुप्त का ४१ वर्ष प्रमाण युग प्रधानपर्याय माननेवाली कोई परंपरा है, इसी परंपरा के स्मरणवश थेरावलीकार ने ३६ संख्यावाचक 'इगुणयाल' शब्द के स्थान में ४१ वाचक 'इगयाल' शब्द लिख दिया है। बहुत संभव है, माथुरी स्थविरावली भद्रगुप्त का युग-प्रधानत्व पर्याय ४१ वर्ष प्रमाण मानती होगी, भद्रगुप्त के बाद यह थेरावली आर्य वज्र को युगप्रधान मानती है और आर्य रक्षित का स्वर्गवास वी० सं० ५८४ में मानती है इससे भी यही पाया जाता है कि इस स्थविरावलीकार के मत में भद्रगुप्त का युगप्रधानत्व पर्याय ४१ वर्ष का ही होगा।

हो गई हैं। पर आश्चर्य है कि उस मूल अशुद्धि की तरफ किसी की नजर नहीं पहुँची।

मैंने जो पहले 'राजत्वकालगणना' का वर्णन किया है उसमें नंदों के १५०, मौर्यों के १६० और पुष्यमित्र के ३५ वर्ष दिए हैं[८९], पर पाठकगण देखेंगे कि आजकल इस विषय की जो जो गाथाएँ हमें उपलब्ध होती हैं उन सभी में नंदों के १५५, मौर्यों के १०८ और पुष्यमित्र के ३० वर्ष लिखे हुए मिलते हैं, जो कि एक चिरकालीन अशुद्धि का परिणाममात्र है।[९०]

८९ पुराणकारों ने ३६ वर्ष तक पुष्यमित्र का राज्य करना लिखा है, इसके लिये देखो टिप्पण नं० ३७।

९० 'तित्थोगाली पइन्नय' विविध 'पट्टावली' और 'दुष्पमाकाल गंडिका' आदि जिन जिन ग्रंथों में प्रकरणों में राजत्व काल-गणना के उल्लेख हैं वहाँ सर्वत्र इसी प्रकार का कालनिर्देश है, केवल एक पुस्तक में (जिसका मैंने 'दुष्पमाकालगंडिकासार' इस नाम से पहले उल्लेख किया है) पालक का २० और नंदों का १४८ वर्ष का राज्यकाल लिखा है पर प्राचीन न होने की वजह से इस उल्लेख पर हम विश्वास नहीं कर सकते।

आचार्य हेमचंद्र वीर निर्वाण से ६० वर्ष बीतने पर नंदराज्य का प्रारंभ बताते हैं, देखो निम्नलिखित परिशिष्ट पर्व का श्लोक—

"अनंतरं वर्धमान-स्वामिनिर्वाणवासरात्।
गतायां षष्टिवत्सर्यामेष नंदोऽभवन्नृपः॥ २४३॥

—परिशिष्ट पर्व सर्ग ६ पत्र ६९।

इससे यह बात तो निश्चित है कि हेमचंद्र ने पालक संबंधी ६० वर्ष छोड़ नहीं दिए हैं, पर वे वी० सं० १५५ में मौर्य राज्य का प्रारंभ हुआ बताते हैं, यह एक नई हकीकत है। मालूम होता है कि हेमचंद्र पर नंदराज्य के १०० वर्ष बतानेवाले पुराणों का असर होगा जिससे नंदों के १५० वर्ष के स्थान केवल ९५ वर्ष ही मान लिए हैं और ऐसा करके उन्होंने भद्रबाहु-चंद्रगुप्त संबंधी वृत्त-कथाओं को संगत करने तथा आर्य महागिरि और आर्य्य सुहस्ती के समय के साथ संप्रति के समय का समन्वय करने की बुद्धि से १५५ में चंद्रगुप्त का राजा होना लिख दिया है। मौर्य राजाओं और पुष्यमित्र का राजत्वकाल कितना था इसका हेमचंद्र के ग्रंथों में उल्लेख नहीं है, पर इनके पहले और पीछे के सभी ग्रंथों में यह गलत समय ही लिखा हुआ मिलता है।

नंदों की वर्षसंख्या बतानेवाले "पुण पण्णसयं" इस वाक्यांश के "पुण" शब्द का अशुद्ध रूप "पण" होकर "पण्णसयं" के साथ मिल जाने से और "पणतीसा पूसमित्तस्स" इस वाक्य खंड के पंचवाचक "पण" शब्द के "पुण" होकर तीसा के पीछे चले जाने से दोनों जगह पाँच वर्ष की कमी बेशी हो गई, पर आखिरी संख्या बराबर रह जाने से यह सूक्ष्म भूल किसी के ध्यान में नहीं आई।

आजकल की गाथाओं में मौर्य-काल-सूचक गाथांश—

"अट्ठसयं मुरियाणं"

—यह है, पर इन गाथाओं के मूल ग्रंथ 'तित्थोगाली पइन्नय' में उक्त गाथांश—

"मरुआ(मुरिया)णं अट्ठसयं"

—इस प्रकार है। अवश्य ही यह पाठ भी अशुद्ध है पर इस उपन्यास में से अशुद्धि का मूल हम जल्दी पकड़ सकते हैं।

वस्तुतः "मुरियाणं अट्ठसयं" की जगह "मुरियाणं सट्ठिसयं" पाठ था, पर लेखक की गलती से "सट्ठिसयं" के "स" के स्थान "म" हो गया,[६१] पिछले शोधकों ने इस "मट्ठिसयं" का

६१ केवल 'सट्ठिसय' में ही 'म' के स्थान पर 'म' नहीं हुआ, दूसरे भी अनेक शब्दों 'स' के 'म' और 'म' के 'स' हुए तित्थोगाली की प्रति में अभी तक दृष्टिगोचर हो रहे हैं, पाठकगण के दर्शनार्थ हम इस विषय के थोड़े से उदाहरण यहाँ उद्धृत करेंगे।

'स' का 'म' होने के उदाहरण—

तित्थोगाली पत्र, गाथा, पाद

अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
मुरा० । १ । २०८—२ ।	सुरा० ।
रारवयवामे । १३ । ३१६—२ ।	रारवयवासे ।
निमुंभे य । २३ । ६१०—२ ।	निसुंभे य ।
मंजतो । २६ । ६८०—२ ।	संजतो ।
मुयनिसिल्लो । ३० । ८०६—४ ।	सुयनिसिल्लो ।

अर्थ एक सौ आठ किया और "मट्ठि" के "मू" और "इ" को गलत समझकर उन्हें ठीक करके "मुरियाणं अट्ठसयं" पाठ बना लिया, पर इसमें भी वैकल्पिक संधि से "मुरियाणमट्ठसयं" होकर कहीं मात्रा न घट जाय इस चिंता से पिछले लेखकों ने इसकी काया ही पलट कर "अट्ठसयं मुरियाणं" बना लिया।

अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
मुयरयग। २२। ८४१—४।	सुयरयण।
संकिण्णा। ३४। ६१२—४।	सैकिण्णा।
भमुंडिय। ३६। ६५०—१।	भसुंडिय।
मुणिविट्ठो। ४५। ११६६—४।	सुणिविट्ठो।

'म' का 'स' होने के उदाहरण—

परीसाणं। १। १३—४।	परीमाणं।
सुहकमला। ११। २७०—४।	मुहकमला।
धणियसुज्जंता। २५। ६६७—२।	धणियमुज्जंता।
०सुवड्ढिओ। २६। ७६८—४।	०मुवड्ढिओ।
सुतिहिंति। ३५। ६३५—२।	मुतिहिंति।
सुम्सुर। ३५। ६३७—२—४।	मुम्मुर।
सुसुर। ३६। ६६५—४।	मुमुर।
०सासणे। ३६। १०५०—२।	०मासणं।
रत्थासुह। ४०। १०५८—४।	रत्थामुह।
सहसेण। ४१। १०६७—४।	महसेण।
सुहे। ४२। ११४२—४।	मुहे।
सुंचा। ४३। ११५८—३।	मुंचा।
सुत्तमं। ४४। ११६७—१।	मुत्तमं।
सुत्ती। ४५। १२०८—२।	मुत्ती।
मुणह। ४५। १२२२—४।	मुणह।

उपर्युक्त उदाहरण परंपरा तित्थोगाली की एक प्राचीन प्रति से उद्धृत की गई है। पाठक महाशय इससे यह समझ सकेंगे कि 'स' के स्थान 'म' हो जाने का हमने जो उल्लेख किया है वह कुछ भी क्लिष्ट-कल्पना नहीं है, पूर्व काल में लेखकों की अज्ञता के कारण 'स' का 'म' हो जाना और 'म' का 'स' हो जाना साधारण बात थी, हमने ऊपर 'स' के स्थान में 'म' के लिखे जाने के जो अनेक उदाहरण दिए हैं उन्हीं की कोटि का 'सट्ठि' का 'मट्ठि' होने का भी एक उदाहरण समझ लीजिए।

इस प्रकार यह भूल और इसका इतिहास है। यह भूल कुछ आजकल की नहीं है, चौदहवीं सदी में तो यह भूल अपना वास्तविक स्वरूप भुलाकर शुद्ध गणना के नाम से प्रसिद्ध हो चुकी थी, जैसा कि आचार्य मेरुतुंग की विचारश्रेणि से ज्ञात होता है। संभव है, उसके भी बहुत पहले यह इसी रूप में रूढ़ हो चली हो।

इस भूल का जैन इतिहास पर क्या असर पड़ता है, वह भी जरा देख लेने योग्य है।

प्रभावकचरित्र और इससे भी प्राचीन प्रबंधों में लिखा है कि आर्य खपट जब भरोच में विचरते थे उस समय वहाँ कालकाचार्य के भानजे बलमित्र भानुमित्र का राज्य था। प्रचलित अशुद्ध गणनानुसार बलमित्र भानुमित्र का राज्य निर्वाण संवत् ३५३ से ४१३ तक में आता है, जब खपटाचार्य का स्वर्गवास निर्वाण ४८४ में होना लिखा है,[६२] अब कहिए, आर्य खपट का बलमित्र के राज्य में विचरना कैसे संगत हो सकता है?

सर्व परंपरा, पट्टावलियों और प्रबंधों से ज्ञात होता है कि कालकाचार्य वीर निर्वाण संवत् ४५३ में मौजूद थे और इनके भानजे बलमित्र भानुमित्र भी इसी समय में भरोच तथा उज्जयिनी में राज्य करते थे।[६३] यदि बलमित्र भानुमित्र का राजत्वकाल निर्वाण संवत् ३५३ और ४१३ के बीच मान लिया जाय—जैसा कि प्रचलित

---

६२ देखो प्रभावकचरित्र का निम्नलिखित उल्लेख—

"श्रीवीरमुक्तितः शतचतुष्टये चतुरशीतिसंयुक्ते।
वर्षाणां समजायत श्रीमानाचार्यखपटगुरुः॥ ७९॥
—प्रभावकचरित्रविजयसिंहप्रबंध पृ० ७४।

६३ कालकाचार्य का भानजा बलमित्र भरोच का राजा था ऐसा प्रभावकचरित्र के निम्न उद्धृत श्लोकों से ज्ञात होता है—

"इतश्चास्ति पुरं लाट ललाटतिलकप्रभम्।
भृगुकच्छं नृपस्तत्र बलमित्रोऽभिधानतः॥ ६४॥"
—प्रभावकचरित्रपादलिप्त पृ० ४८।

अशुद्ध गाथाओं के अनुसार आता है—तो कालक और बलमित्र भानुमित्र का समान-कालीनत्व कैसे हो सकेगा ?

ये अनेक विरोध और असंगतियाँ इस भूल के कारण उपस्थित होती हैं जो हमारे संशोधन के बाद नहीं ठहर सकतीं।

ऊपर हमने जो भूलसंबंधी तर्क किया है, वह केवल कल्पना ही नहीं है, पर तित्थोगाली पइन्नय के लेख से भी यही प्रमाणित होता है कि इसकी गणनाविषयक गाथाओं में कुछ भूल प्रविष्ट हो गई है, क्योंकि आधुनिक पाठ के अनुसार वीर निर्वाण से शक तक के राजाओं के राजत्वकाल के ५५३ वर्ष ही आते हैं, पर हमें चाहिए ६०५ वर्ष, क्योंकि इन्हीं गाथाओं में लिखे हुए वर्षों का जोड़ बताती हुई आगे की गाथा में निर्वाण-शक के अंतर के ६०५ वर्ष और ५ मास दिए हैं, इससे निश्चित है कि उक्त पयन्ने की वर्तमान गाथाओं में से ५२ वर्ष छूट गए हैं, और यह ५२ वर्ष की भूल "सट्ठिसयं" के स्थान "मट्ठिसयं" हो जाने का ही परिणाम हो सकता है।

गर्दभिल्लों के १५२ वर्ष

हम ऊपर देख चुके हैं कि प्रचलित गणना में मौर्यकाल में से ५२ वर्ष छूट गए हैं, पर पिछले लेखकों ने गर्दभिल्लों के १५२ वर्ष मानकर इस कमी को दूरकर वीर निर्वाण और शक का ६०५ वर्ष का अंतर ठीक कर लिया। इस संबंध में आचार्य मेरुतुंग निम्नलिखित गाथा देते हैं—

"तथा श्रीकालकाचार्य स्वस्रीयः श्रीयशोनिधिः।
भृगुकच्छपुरं पाति, बालमित्राभिधो नृपः॥ ३०८॥"
—प्र० च० पादलिप्त प्रबंध पृ० ६७।

बलमित्र उज्जयिनी का राजा था यह बात निशीथचूर्णि और कालकाचार्य कथा में लिखी है, देखो टिप्पण नं० ७१ में उद्धृत इन ग्रंथों के उल्लेख।

"विक्कमरज्जाणंतर, सतरसवासेहिं वच्छरपवित्ती ।
सेसं पुण पणतीससयं, विक्कमकालम्मि य पविट्ठं ॥"

इसकी व्याख्या वे इस तरह करते हैं—

"सप्तदशवर्षैर्विक्रमराज्यानंतरं वत्सरप्रवृत्तिः । कोऽर्थः ?, नभोवाहनराज्यात् १७ वर्षैर्विक्रमादित्यस्य राज्यम् । राज्यानंतरं च तदैव वत्सरप्रवृत्तिः । ततो द्विपंचाशदधिकशत (१५२) मध्यात् १७ वर्षेषु गतेषु शेषं पंचत्रिंशदधिकशतं (१३५) विक्रमकाले प्रविष्टम्" अर्थात् '१७ वर्षों में विक्रम राज्य के अनंतर संवत्सर चला, इसलिये १५२ में से १७ वर्ष पहले व्यतीत हो चुके थे और १३५ वर्ष विक्रम और शक के अंतर में प्रविष्ट हैं । इस तरह गर्दभिल्ल के राज्यारंभ से शक संवत्सर तक कुल १५२ वर्ष होते हैं ।'

गर्दभिल्लों के १५२ वर्ष सिद्ध करने के लिये मेरुतुंग को यह द्राविड़ीय प्राणायाम करना पड़ा है, क्योंकि किसी भी तरह उन्हें निर्वाण और शक के बीच ६०५ वर्षों का मेल मिलाना था, पर मेरी समझ में उनका यह अर्थ उक्त गाथा से उपस्थित नहीं हो सकता । गाथा के पूर्वार्द्ध का स्पष्ट और स्वाभाविक अर्थ तो यही है कि 'विक्रम राज्य के बाद १७ वर्षों में संवत्सर की उत्पत्ति हुई ।'

राजत्वकालगणना के विवेचन में हम कह चुके हैं कि 'बलमित्र' ही जैनों का विक्रमादित्य[६४] है । निर्वाण संवत् ४५३ में गर्दभिल्ल को उठाकर कथावली आदि के मतानुसार वह उज्जयिनी के राज्या-

६४ संस्कृत भाषा में 'बल' और 'विक्रम' शब्द एकार्थक हैं और 'मित्र' तथा 'आदित्य' भी समानार्थक हैं, इसलिये 'बलमित्र' कहो या 'विक्रमादित्य' दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है । संभव है, बलमित्र ही उज्जयिनी के सिंहासन पर बैठने के बाद 'विक्रमादित्य' नाम से प्रख्यात हुआ हो, अथवा उस समय वह 'बलमित्र' और 'विक्रमादित्य' इन दोनों नामों से प्रसिद्ध होगा और 'कृतसंवत्सर' के साथ 'विक्रम' नाम प्रचलित होने के बाद पूर्वोक्त २२ वर्ष की भूल के परिणाम कालभिन्नता से बलमित्र और विक्रमादित्य भिन्न भिन्न मान लिए गए होंगे ।

सन पर बैठा[९५]। और इसके बाद १७ वर्षों में (निर्वाण सं० ४७०) मालव संवत्सर की प्रवृत्ति हुई, यही घटना पूर्वोक्त गाथा के पूर्वार्द्ध में सूचित की है, पर मौर्यों के राजत्व काल में से ५२ वर्ष छूट जाने के कारण पीछे से इस स्वाभाविक अर्थ की व्यवस्था असंगत हो गई थी इसी लिये आचार्य मेरुतुंग को अस्वाभाविक कल्पना करने की जरूरत पड़ी।

मत्स्य ब्रह्मांड और वायुपुराण में कुल ७ गर्दभिल्ल राजा लिखे हैं,[९६] और ब्रह्मांडपुराण में गर्दभिल्लों का राजत्वकाल सिर्फ ७२ वर्ष का लिखा है।[९७] 'तित्थोगाली पइन्नय' में गर्दभिल्लवंश्य राजाओं की संख्या तो नहीं पर उनका राजत्वकाल १०० वर्ष प्रमाण लिखा है, तब आचार्य मेरुतुंग गर्दभिल्ल १७, विक्रमादित्य ६० धर्मादित्य ४०, भाइल्ल ११, नाइल्ल १४ और नाहड़ १०, इस तरह गर्दभिल्ल

९५ अनेक चूर्णियों और कालक कथाओं के लेखानुसार उज्जयिनी के गर्दभिल्ल को उठा के वहाँ के राज्यासन पर कालकाचार्य का आश्रयदाता शाहि बिठलाया गया था, पर भद्रेश्वरसूरि की कथावली में एक ऐसा उल्लेख है जो गर्दभिल्ल के अनंतर ही उज्जयिनी के राज्यासन पर कालक के भानजे बलमित्र का अभिषेक हुआ बताता है। देखो कथावली का निम्नलिखित लेख—

"साहिप्पमुहराणएहिं चाहिसित्तो उज्जेणीए कालगसूरिभाणेज्जो बलमित्तो नाम राया, तक्कणिट्ठभाया य भाणुमित्तो नामाहिसित्तो जुवराया।"

—कथावली। २। २८९।

९६ "सप्तैवांध्रा भविष्यंति, दशाभीरास्तथा नृपाः।
सप्त गर्दभिल्लाश्चापि, शकाश्चाष्टादशैव तु॥ १८॥"

मत्स्यपुराण अ० २७३। पत्र २१६।

"सप्तषष्टिं च वर्षाणि, दशाभीरास्ततो नृपाः।
सप्तगर्द्दभिनश्चैव भोक्ष्यंतीमां द्विसप्ततिम्॥ ७४॥"

—ब्रह्मांडपुराण म० भा० उपो० पा० ३। अ० ७४

सप्तैव तु भविष्यंति, दशाभीरास्ततो नृपाः।
सप्तगर्द्दभिनश्चापि, ततोऽथ दश वै शकाः॥ ३५३॥"

—वायुपुराण उत्त० अ० ३७।

९७ देखो टिप्पण नं० ९६ में उद्धृत ब्रह्मांडपुराण का श्लोक।

आदि ६ पुरुषों में १५२ वर्षों का समावेश करते हैं,[९८] जो स्वाभाविक रीत्या अधिक है। मेरे मत से तो मेरुतुंग के विक्रमादित्य और धर्मादित्य, बलमित्र और नभःसेन से भिन्न नहीं हैं। विक्रमादित्य और धर्मादित्य का राजत्वकाल मेरुतुंग क्रमशः ६० और ४० वर्ष का देते हैं, तब बलमित्र और नभःसेन ने भी अनुक्रम से ६० और ४० वर्ष तक राज्य किया था। मेरुतुंग विक्रमादित्य को गर्दभिल्ल का पुत्र लिखते[९९] हैं, बलमित्र भी गर्दभिल्ल का पुत्र अथवा वंशज होना चाहिए, क्योंकि गर्दभिल्ल के बाद वह उज्जयिनी के राज्य का अधिकार प्राप्त करता है। बलमित्र-भानुमित्र १२ वर्ष तक उज्जयिनी का शासन करते हैं और इनके बाद संभवतः इन्हीं का पुत्र वा वंशज नभःसेन ४० वर्ष तक उज्जयिनी का राज्य करता है, ये ५२ (१२ + ४० = ५२) वर्ष गर्दभिल्लों के १०० वर्षों में जोड़ देने से गर्दभिल्लों के १५२ वर्ष का लेखा भी मिल जाता है। और दर्पण १, बलमित्र २, भानुमित्र ३, नभःसेन ४, भाइल्ल ५, नाइल्ल ६ और नाहड़ ७ इस प्रकार गर्दभिल्लों की पुराणोक्त संख्या भी मिल जाती है।

यदि उपर्युक्त हमारा अनुमान ठीक माना जाय तो इसका अर्थ यही होगा कि मौर्यकाल में से जो ५२ वर्ष छूट गए थे उनकी

---

९८ देखो मेरुतुंगीय विचारश्रेणी का निम्नलिखित अवतरण—

"× × × गर्दभिल्लः। १३। शकाः ४। एवं ४७०। तदनु विक्रमादित्यः ६०। धर्मादित्यः ४०। भाइल्लः ११। नाइल्लः १४। नाहडः १०। एवं १३५। उभयं ६०५।"

—विचारश्रेणि पत्र ३।

इस प्रकार मेरुतुंगसूरि शक संबंधी ४ वर्ष सहित ६ गर्दभिल्लीय राजाओं का राजत्वकाल १५२ वर्ष प्रमाण लिखते हैं।

९९ देखो विचारश्रेणि का नीचे लिखा हुआ उल्लेख—

"तदनु गर्दभिल्लस्यैव सुतेन विक्रमादित्येन राज्ञोज्जयिन्या राज्यं प्राप्य सुवर्णपुरुषसिद्धिबलात् पृथिवीमनृणां कुर्वता विक्रमसंवत्सरः प्रवर्तितः।"

—विचारश्रेणि पत्र ३।

जगह पूरी करने के लिये पिछले लेखक बलमित्र के १२ और नभः-सेन के ४० वर्षों को भूल से दुबारा गिनकर लेखा ठीक करते थे।

१३ वर्ष के मतभेद का कारण

हम ऊपर देख आए हैं कि राजत्वकालगणना में कुछ गड़बड़ अवश्य हो गई थी, पर निर्वाण और शक के अंतर में मतभेद नहीं था। माथुरी गणना से, वालभी गणना से, मौर्यों के १६० वर्ष मानने से और उनके १०८ वर्ष मानने से भी निर्वाण और शक का अंतर तो ६०५ वर्ष तक ही आता था। इससे यह तो निश्चित है कि जब शक संवत्सर की प्रवृत्ति हुई वहाँ तक जैनों में महावीर निर्वाण के संबंध में कोई मतभेद नहीं था। परंतु पूर्व वर्णित ५२ वर्ष इधर उधर हो जाने के बाद जब—

"विक्कमरज्जाणंतर तेरसवासेहिं वच्छरपवित्ती।"

—इस वाक्य का वास्तविक अर्थ चला गया और—

'वीर निर्वाण से ४७० वर्ष के बाद विक्रम राजा हुआ और पृथिवी को उऋण करके राज्य के तेरहवें वर्ष में उसने अपना संवत्सर चलाया।'

जब इस तरह की अथवा इससे मिलती जुलती मान्यता रूढ़ हो चली[100] तभी से इस १३ वर्ष की आधिक्यवाली मान्यता का समर्थन किया जाने लगा।

१०० जब से विक्रम नाम के साथ संवत लिखने की प्रथा चली है तभी से इस विषय में अनेक प्रकार की मान्यताएँ प्रचलित हो चली हैं। 'विक्रम पहले अवंति का राजा हुआ और पीछे उसने पृथिवी का ऋण चुकाकर अपना संवत्सर चलाया' इस आशय के उल्लेख भी अनेक ग्रंथों में हैं।

प्रभावकचरित्र के जीवदेवसूरि प्रबंध में आचार्य प्रभाचंद्रसूरि ने लिखा है कि 'जिस समय आचार्य जीवदेवसूरि वायट नगर में थे उस समय विक्रमादित्य अवंती (उज्जयिनी) में राज्य करता था, संवत्सर प्रवृत्ति के निमित्त पृथिवी का ऋण चुकाने के लिये राजा ने अपने मंत्री लाबा को वायट भेजा जहां उसने प्रसिद्ध महावीर का मंदिर जीर्ण देखा, लंबा ने उसका जीर्णोद्धार कराकर विक्रम संवत् ७ में जीवदेवसूरि के हाथ से ध्वजदंड की प्रतिष्ठा कराई।'

प्रबंध के मूल शब्द इस प्रकार हैं—

"इतः श्रीविक्रमादित्यः शास्त्यवंतीं नराधिपः ।
अनृणां पृथिवीं कुर्वन् प्रवर्तयति वत्सरम् ॥ ७१ ॥
वायटे प्रेषितोऽमात्यो लिम्बाख्यस्तेन भूभुजा ।
जनानृण्याय जीर्णं चाऽपश्यच्छ्रीवीरधाम तत ॥ ७२ ॥
उद्धार स्ववंशेन निजेन सह मंदिरम् ।
अर्हतस्तत्र सौवर्ण-कुंभदंडध्वजालिभृत ॥ ७३ ॥
संवत्सरे प्रवृत्ते स षट्सु वर्षेषु पूर्वतः ।
गतेषु सप्तमस्यांतः प्रतिष्ठां ध्वजकुंभयोः ॥ ७४ ॥
श्रीजीवदेवसूरिभ्यस्तेभ्यस्तत्र व्यधापयत् ।
यथाऽप्यभङ्गं तत्तीर्थममूदरिभिः प्रतिष्ठितम् ॥ ७५ ॥

—प्रभावकचरित्र पृ० ८३ ।

जिनप्रभसूरि के पावापुरी कल्प में भी इसी आशय का उल्लेख है कि 'महावीर-निर्वाण के अनंतर पालक, नंद, चंद्रगुप्त आदि राजाओं के बाद ४७० वर्ष पर विक्रमादित्य राजा होगा। ४७० वर्ष का लेखा इस प्रकार है— पालक वर्ष ६०, नवनंद १५५, मौर्य वंश १०८, पुष्यमित्र ३०, बलमित्र भानु-मित्र ६०, नरवाहन ४०, गर्दभिल्ल १३ और शक राज्यवर्ष ४। कुल जोड़ ४७०। इसके बाद विक्रमादित्य राजा होगा। वह (विक्रम) सुवर्ण पुरुष को सिद्ध करके पृथिवी को उऋण कर अपना संवत्सर चलावेगा।'

उक्त कल्प का मूलपाठ इस प्रकार है—

" मह मुक्खगमणाओ पालय-नंद-चंदगुत्ताइ-राईसु वोलीणेसु चउसयसत्तरेहिं वासेहिं विक्कमाइच्चो राया होही। तत्थ सट्ठी वरिसाणं पालगस्स रज्जं, पणपन्नसयं नंदाणं, अट्ठुत्तरं सयं मोरियवंसाणं, तीसं पूसमित्तस्स, सट्ठी बल-मित्त-भाणुमित्ताणं, चालीसं नरवाहणस्स, तेरस गद्दभिल्लस्स, चत्तारि सगस्स। तओ विक्कमाइच्चो, सो साहियसुवण्णपुरिसो पुहविं अरिणं काउं नियसंवच्छरं पवत्तेही।"

—पावापुरी कल्प पत्र ६ ।

इन उल्लेखों से यह तो स्पष्ट झलकता है कि वीरनिर्वाण से ४७० वर्ष के बाद विक्रमादित्य राजा हुआ और उनके बाद कालांतर में उसने अपना संवत्सर प्रचलित किया, पर वह अंतर कितने वर्षों का था इसका इन उल्लेखों में स्पष्टीकरण नहीं है।

माथुरी वाचनावालों के मतानुसार वीर निर्वाण और विक्रम संवत्सर का अंतर ४७० वर्ष का था, इस मान्यता को व्यक्त करते हुए वे कहते—

"विक्रमरज्जारंभा, पुरओ सिरिवीरनिव्वुई भणिया।
सुन्नमुणिवेयजुत्तो, विक्कमकालाउ जिणकालो ॥"[101]

अर्थात् 'विक्रम राज्यारंभ के ४७० वर्ष पहले वीर निर्वाण हुआ इसलिये विक्रमकाल में ४७० वर्ष मिलाने पर जिनकाल होगा।'

इस मान्यता के उत्तर में वालभी वाचनानुयायी कहते थे—नहीं, विक्रमकाल में ४७० वर्ष ही नहीं, पर ४८३ वर्ष डालने से जिन-काल आयगा, क्योंकि ४७० वर्ष का अंतर तो निर्वाण और विक्रम राज्यारंभ का है, और राज्यारंभ के बाद १३ वर्ष में विक्रम संवत्सर प्रवृत्त हुआ इसलिये ४८३ (४७० + १३ = ४८३) डालने से ही वीर और विक्रम संवत् का अंतर निकलेगा। इसी तात्पर्य को सूचित करनेवाली निम्नलिखित गाथा विद्यमान है—

"विक्कमरज्जाणंतर तेरसवासेसु वच्छरपवित्ती।
सिरिवीरमुक्खओ वा चउसयतेसीइवासाओ ॥"[102]

---

१०१ यह गाथा मेरुतुंग व्याख्यान स्थविरावली में है, इसका उत्तरार्द्ध मात्र धर्मघोषसूरि की कालसप्ततिका में भी है। इसके सिवा प्रकीर्णक गाथा पत्रों में भी यह गाथा अनेक जगह दृष्टिगत होती है, पर अभी तक यह मालूम नहीं हुआ कि यह गाथा है किस ग्रंथ की और किसकी रचना।

१०२ यह गाथा भी किस मौलिक ग्रंथ की है इसका पता नहीं है। हमने यह गाथा बड़ौदे के सेठ अम्बालाल नानाभाई के पुस्तकभंडार में रक्षित प्रकीर्णक प्राचीन पत्रों में से लिखी थी। यही गाथा मेरुतुंगीय विचारश्रेणि के परिशिष्ट में भी दृष्टिगोचर होती है पर वहां इसके चतुर्थ चरण में "चउसय तेसीइ" के स्थान में "चउसय तेवीस" पाठ है। साथ ही वहां नीचे लिखा है कि 'यह गाथा तित्थोगाली प्रकीर्णक में है' (तिन्थुगाली प्रकीर्णके) परंतु वर्तमान में उपलब्ध तित्थोगाली प्रकीर्णक में यह गाथा नहीं है। मालूम होता है, अनेक गाथाएँ जैसे तीर्थोद्धार प्रकीर्णके नाम पर चढ़ा दी गई हैं उसी प्रकार इस पर भी किसी ने योंही तित्थोगाली प्रकरण की मुहर लगा दी है। कुछ भी हो, पर यह तो निश्चित है कि वीरनिर्वाण के संबंध में जैनों में १३

यद्यपि इस गाथा के सिवाय दूसरे किसी ग्रंथ में यह स्पष्ट नहीं लिखा कि विक्रम राज्य के किस वर्ष में संवत्सर की प्रवृत्ति हुई थी, पर अनेक लेखक यह तो अवश्य कहते हैं कि निर्वाण से ४७० वर्ष में विक्रम का राज्य प्रारंभ हुआ और बाद में संवत्सर प्रचलित हुआ।[१०१]

कुछ भी हो, पर यह बात तो निश्चित है कि पिछले समय में जैन संघ में एक ऐसा समुदाय भी वर्तमान था, जो वीर निर्वाण का विक्रम राज्यारंभ से और उसके नाम से प्रचलित संवत्सर से जुदा जुदा अंतर मानता था और इस मान्यता का कारण मेरे विचार से ५२ वर्ष के विपर्यास के परिणामस्वरूप—

"तेरसवासेसु वच्छरपवित्ती"—

इस वाक्य के वास्तविक अर्थ का विस्मरण और काल्पनिक अर्थ की उत्पत्ति ही था। और वालभी गणना में जो १३ वर्ष अधिक आते थे वे इस मान्यता के समर्थक थे।

निर्वाण समयविषयक दिगंबरीय सम्मति

अब तक हमने निर्वाण-समय का विचार श्वेतांबर जैनों के सूत्र और प्रकरणों के आधार पर ही किया है, पर इस विषय में दिगंबर जैनाचार्यों की क्या सम्मति है इसका उल्लेख नहीं किया। किंतु जहाँ तक हमारा खयाल है, निर्वाण समय के बारे में प्रामाणिक दिगंबराचार्यों का भी वही मत है जो श्वेतांबर जैनाचार्यों ने "तित्थोगाली पइन्नय" आदि ग्रंथों में निरूपण किया है।

यह बात बार बार कही गई है कि हमारी गणना में वीर निर्वाण और शक संवत्सर के बीच ६०५ वर्ष और ५ मास का अंतर माना गया है, और ठीक यही मान्यता दिगंबर जैनाचार्य यति वृषभ की

वर्ष का मतभेद रूढ़ होने के उपरांत विक्रम संवत् लिखने की प्रवृत्ति शुरू होने के बाद की ये दोनों गाथाएँ हैं जो दोनों पक्ष के मत की रूपरेखा प्रदर्शित करती हैं।

१०१ देखो टिप्पण नं० १००।

"तिलोय पण्णत्ति" और सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्य नेमिचंद्र के "तिलोय सार" में दृष्टिगोचर होती है।

प्रस्तुत विषय की तिलोय पण्णत्ति की गाथा यह है—

"णिव्वाणे वीरजिणे, छव्वाससदेसु पंचवरिसेसु।
पणमासेसु गदेसु, संजादो सगणिओ अहवा।"[१०४]

अर्थात् 'वीर निर्वाण के बाद ६०५ वर्ष और ५ मास के बीतने पर शक राजा हुआ।'

---

१०४ 'अहवा' का अर्थ विकल्प दर्शन है। इससे ज्ञात होता है कि गाथोक्त समय के उपरांत उस समय इसके संबंध में दूसरे विकल्प भी थे जिनका यति वृषभ ने 'अहवा' से सूचन किया है और इस प्रसंग पर दूसरी गाथाओं में उनका निरूपण भी किया है।

इन मतविकल्पों में एक मान्यता यह थी कि 'वीरनिर्वाण से ४६१ वर्ष के बाद ४६२ में 'शक राजा' उत्पन्न हुआ।' यह मान्यता विक्रम और शक राजा को एक मानने संबंधी भूल का परिणाम है। जैसे त्रिलोकसार की टीका में माधव चंद्र ने निर्वाण से ६०५ वर्ष पीछे होनेवाले शक राजा को 'विक्रमांक' कहने की भूल की है ("श्रीवीरनाथ निर्वृतेः सकाशात् पंचोत्तर-षट्छतवर्षाणि गत्वा पश्चाद्विक्रमांक शकराजोऽजायत।") वैसे ही इस मान्यतावालों ने विक्रम को शक समझने की भूल की। यति वृषभ के समय में दूसरी मान्यता यह थी कि वीरनिर्वाण के बाद ९७८५ वर्ष और ५ मास बीतने पर शक राजा हुआ था, और तीसरी कल्पना यह थी कि वीर निर्वाण से १४७९३ वर्ष बीतने पर शक राजा हुआ। ये तीनों मत त्रिलोक प्रज्ञप्ति की निम्नलिखित गाथाओं से स्पष्ट होते हैं—

"वीरजिणे सिद्धिगदे, चउसदइगसट्ठिवासपरिमाणे।
कालम्मि अदिक्कंते, उप्पण्णो एत्थ सगराओ॥
अहवा वीरे सिद्धे, सहस्सणवकंमि सगसयब्भहिए।
पणसीदिंमि अतीदे, पणमासे सगणिओ जादो॥
चोद्दससहस्ससगसय तेणउदिवासकालविच्छेदे।
वीरेसरसिद्धीदो, उप्पण्णो सगणिओ अहवा॥"

इन गाथाओं के प्रतिपादन के अनुसार क्या सचमुच ही यति वृषभ के समय में वीर और शक के अंतर के संबंध में भिन्न भिन्न मान्यताएँ होंगी? अथवा इन गाथाओं का कुछ और ही तात्पर्य है? विद्वानों को इन गाथाओं की पूरी समालोचना करनी चाहिए।

यही बात नेमिचंद्र के 'तिलोय सार' की नीचे की गाथा में भी कही है—

"पण छस्सयवस्सपणमासजुदं गमियवीरणिव्वुइदो सगराजो"।
तो कक्की [ति] चदुणवतिमहियसगमासं ॥[१०५]

अर्थात् 'वीर जिन के निर्वाण से ६०५ वर्ष और ५ मास व्यतीत होने पर शक राजा हुआ।'

उपर्युक्त दोनों प्राचीन दिगंबराचार्यों की निर्वाण-विषयक काल-गणना हमारी गणना के साथ बराबर एकरूप हो जाती है, और वर्तमान कालीन दिगंबर संप्रदाय भी इन्हीं आचार्यों के कथनानुसार शक से पहले ६०५ वर्ष और ५ मास के अंतर पर ही वीर निर्वाण संवत् मानता है, इसलिये यह कहना अनुचित नहीं होगा कि निर्वाण समय के विचार में दोनों जैन संप्रदाय प्रारंभ से लेकर आज तक एक-मत हैं, और हमारी समझ में प्रचलित निर्वाण समय की सत्यता में यह एक सबल प्रमाण गिना जा सकता है।

निर्वाण समयविषयक आधुनिक मतभेद

अब हम महावीर के निर्वाण-समय-संबंधी आधुनिक मतभेदों की कुछ चर्चा करके इस लेख को पूरा करेंगे।

जब से डाक्टर हर्मन याकोबी ने आचार्य हेमचंद्र के एक उल्लेख के आधार पर महावीर निर्वाण के प्रचलित संवत् की सत्यता में संदेह

---

१०५ इस गाथा में 'सगराजो' पर्यंत शक का वृत्तांत है, और उसके बाद राजा कल्कि का। दिगंबर जैनाचार्यों की मान्यता यह है कि वीर निर्वाण के बाद १००० वर्ष बीतने पर प्रथम कल्की और दूसरे हजार वर्ष की संधि में दूसरा कल्की होगा, इस प्रकार हर एक हजार हजार वर्ष की संधि में एक एक कल्की होगा। इस प्रकार २० कल्की होने के बाद २१ वाँ जलमंथन नामक सन्मार्ग का मथन करनेवाला कल्की होगा।

प्रथम कल्की शक संवत् ३९४ वर्ष और ७ मास में होने का इस गाथा में उल्लेख है इससे यह बात सिद्ध हो चुकी कि वीरनिर्वाण और शक संवत् के बीच जो ६०५ वर्ष ५ मास का अंतर बताया जाता है वही दिगंबर जैनाचार्यों की सैद्धांतिक मान्यता है।

उपस्थित करके निर्वाण समय के निर्णय में अपना नया मत प्रदर्शित किया है तब से इस विषय की अधिक चर्चा और समालोचना हो रही है।

डा० हर्मन याकोबी और इन्हीं के मतसमर्थक डाक्टर जार्ल चारपेंटियर प्रचलित वीर निर्वाण संवत् में से ६० वर्ष कम करके ई० स० पूर्व ४६७ वर्ष पर महावीर का निर्वाण होना बताते हैं।[१०६]

इस मत के समर्थक विद्वानों की मुख्य दलीलें ये हैं—

(१) 'जिन गाथाओं के आधार पर निर्वाण समय का प्रतिपादन किया गया है, उन गाथाओं में बताए हुए राजाओं का और स्थानों का कुछ भी ऐतिहासिक संबंध न होने से उनके सत्तासमय के आधार पर की गई निर्वाण-समय गणना सत्य नहीं हो सकती।'

(२) 'महावीर निर्वाण के बाद ४७० वर्ष पर विक्रम संवत् मान-कर जो निर्वाण संवत् माना जाता है वह भी ठीक नहीं हो सकता। क्योंकि उस समय में संवत्सरप्रवर्तक विक्रम नामक किसी व्यक्ति के अस्तित्व का ही इतिहास में पता नहीं है, तो उसके नाम से प्रच-लित संवत्सर के आधार पर निर्वाण संवत्सरगणना निर्दोष कैसे हो सकती है?'

(३) 'बौद्ध साहित्य से बुद्ध और महावीर की समकालीनता सिद्ध होती है, और बुद्ध का निर्वाण ई० स० पहले ४७७ वर्ष पर हुआ था यह बात निश्चित हो चुकी है, अब जो महावीर का निर्वाण प्रचलित परंपरानुसार ई० स० पहले ५२७ वर्ष पर मान लिया जाय तो महावीर के निर्वाणसमय में बुद्ध की अवस्था सिर्फ ३० वर्ष की होगी; जिस समय कि उन्हें बोधिज्ञान तक प्राप्त नहीं हुआ था तो वे महावीर के समकालीन धर्मप्रवर्तक कैसे हो सकते हैं?'

---

१०६ महावीर के निर्वाण समय के संबंध में प्रो० याकोबी ने कल्पसूत्र और सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट पुस्तक २२ की प्रस्तावना में चर्चा करके निर्वाण समय ई० स० पूर्व ४६७ वर्ष पर स्थापित करने का प्रयत्न किया है, और इन्हीं की दलीलों के आधार पर डा० जार्ल चारपेंटियर ने अधिक विस्तृत निबंध लिख के प्रो० याकोबी के मत का समर्थन किया है। यह लेख इस विषय में आज तक लिखे गए पाश्चात्य विद्वानों के सब लेखों से अधिक विस्तृत है।

डा० याकोबी और चारपेंटियर के निबंधों की ये ही मुख्य दलीलें हैं, और इन सबके संक्षिप्त उत्तर मेरे इस लेख में आ भी गए हैं, पर फिर भी स्पष्टता के विचार से इस विषय में यहाँ कुछ लिखना ठीक होगा।

प्रथम दलील के जवाब में ज्यादा लिखना वृथा है क्योंकि राजत्वकाल-गणना-पद्धति के विवेचन में ही हमने लिख दिया है कि यह गणना किसी राजवंश की वंशावली या पट्टावली नहीं है, किंतु स्मृतियों की एक शृंखला है। जैन साधु किसी भी राजवंश या राजस्थान के ग्रासभोगी कीर्तिगाथक नहीं होते थे जो भाटों की तरह हमेशा वहीं रहकर उस वंश की वंशकथा लिखते रहते, किंतु अपने धार्मिक नियमों के अनुसार देश परदेश में भ्रमण करनेवाले अप्रतिबद्ध विहारी साधु थे, वे जिस समय जहाँ होते वहाँ के अधिक प्रसिद्ध राजा के राजत्व काल को अपनी गणना में संबंधित कर लेते थे जिसका कारण मात्र यही था कि निर्वाण काल गणना में किसी तरह की भूल प्रविष्ट न हो जाय, इसलिये इस पद्धति में ऐतिहासिक संबंध ढूँढ़ना निरर्थक है।

बलमित्र भानुमित्र और कालकाचार्य का समय परस्पर न मिलने की जो शिकायत थी वह अवश्य ही विचारणीय थी, पर अब हमारे संशोधन के बाद यह शिकायत भी दूर हो जाती है।

संवत्सरप्रवर्तक विक्रम नामक व्यक्ति के अस्तित्व-नास्तित्व की शंका[१०७] भी जैनगणना में कुछ भी असर नहीं डाल सकती, क्योंकि

इसके अतिरिक्त डा० हार्नेल, गुरिनाट, राइस्, थॉमस, आदि ने भी महावीर-निर्वाण समय के विषय में लिखा है पर इनमें से अधिकतर विद्वानों का मत ई० स० ५२७ वर्ष पूर्व निर्वाण मानने के पक्ष में है इसलिये इनकी यहाँ समालोचना करना अनावश्यक है।

१०७ अधिकतर पुरातत्त्ववेत्ताओं का कथन है कि 'ई० स० से ५७ वर्ष के अंतर पर जो संवत्सर प्रचलित है उसके साथ विक्रम का वास्तविक कोई संबंध नहीं है। शिलालेख, सिक्का आदि कोई भी ऐसा प्रमाण नहीं है कि इस संवत्सर-प्रवृत्ति के समय में 'विक्रम' नामक व्यक्ति का अस्तित्व भी साबित कर

हमारी प्राचीन गणना निर्वाण से आरंभ होकर ६०५ वर्ष और ५ मास के अंत में शक संवत्सर से आ मिलती है और तब से दोनों संवत्सर आज तक उसी अंतर पर चले आ रहे हैं।

विक्रमादित्य (बलमित्र) की मृत्यु के पीछे ५ वर्ष के उपरांत चले हुए मालवगण संवत् के साथ जब से विक्रम का नाम जुड़ा और उसका व्यवहार में अधिक अंतर प्रयुक्त होने लगा[१०८] तब से जैन लेखकों ने

सके। पहले पहल 'विक्रमादित्य' उपाधि का उल्लेख द्वितीय चंद्रगुप्त के नाम के साथ मिलता है, इसके पहले किसी का नाम या उपाधि 'विक्रमादित्य' हो ऐसा कुछ भी साधक प्रमाण नहीं है। प्रचलित संवत्सर के साथ विक्रम का नाम बहुत पीछे से लिखा जाने लगा है। ९ वीं सदी के पहले के किसी भी लेख पत्र में संवत के साथ 'विक्रम' शब्द लिखा नहीं मिलता, इसलिये या तो इस संवत्सर प्रवर्तन के समय में विक्रम नामधारी कोई राजा ही नहीं हुआ, और यदि कोई इस नाम वाला व्यक्ति हुआ भी हो तो उसका इस संवत्सर प्रवृत्ति के साथ कोई संबंध नहीं था।'

हमारे विचार में यद्यपि यह संवत्सर विक्रमादित्य ने नहीं चलाया, पर उस समय में अथवा उसके आस पास के समय में 'विक्रम' नामक व्यक्ति का अस्तित्व मानने में कोई आपत्ति नहीं है। तित्थोगाली पइन्नय की कालगणना में निर्दिष्ट 'बलमित्र' ही वास्तव में संवत्सर संबंधित विक्रमादित्य है। उसका उज्जयिनी में राज्य हुआ, उसके बाद १३ वर्ष पर प्रचलित संवत्सर का आरंभ हुआ था जब कि बलमित्र-विक्रमादित्य को मरे पाँच वर्ष पूरे हो चुके थे, इस भाव को व्यक्त करनेवाली कई प्राचीन जैन गाथाएँ हैं जिनका हमने इसी लेख में यथास्थान उपयोग किया है। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि शुरू में इस संवत्सर के साथ विक्रम का खास संबंध नहीं था यह बात ठीक है, पर इस नाम का कोई राजा ही नहीं हुआ यह नहीं कहा जा सकता। हाल-गाथा-सप्तशती में विक्रमादित्य की प्रशंसा में लिखी हुई एक गाथा उपलब्ध होती है। यदि यह गाथा-सप्तशती सातवाहन वंश के राजा हाल की अथवा उसके समय की कृति मानने में कोई आपत्ति नहीं है तो उसके पहले विक्रमादित्य नामक राजा का अस्तित्व मानने में भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

१०८ मालवगण संवत् के साथ विक्रम नाम कब से लिखा जाने लगा इसका निश्चय होना मुश्किल है, क्योंकि नौवीं शताब्दी के पहले के किसी लेख में संवत् के साथ 'विक्रम' शब्द लिखा हुआ नहीं मिलता, पर संभव

भी वीर-विक्रम का अंतर बतानेवाली गाथाएँ बना डालीं, और मेरुतुंग सूरि आदि पिछले लेखकों ने उन्हीं गाथाओं के आधार पर विक्रम के ४७० वर्ष पहले महावीर का निर्वाण-समय बताया, तो इसमें भी संदेह करने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि शक के १३५ वर्ष पूर्व और वीर निर्वाण से ४७० वर्ष पीछे एक संवत् चला था यह बात लगभग सर्वमान्य है, मेरुतुंग ने जो निर्वाण और विक्रम संवत् के बीच ४७० वर्ष का अंतर लिखा है उसका तात्पर्य इसी संवत्सर के अंतर से है, चाहे यह संवत् विक्रम से चला हो या दूसरे किसी से।

अब रही बुद्ध और महावीर की समकालीनता की बात, सो यह तो हम भी मानते हैं कि ये दोनों महापुरुष समकालीन ही थे, पर बुद्ध के संदेहपूर्ण निर्वाण-समय को निश्चित मान लेने और महावीर-निर्वाण-समय को, जो निश्चित और निस्संदेह है, इधर उधर घसीट-कर उलटा अव्यवस्थित बना देनेवाली पाश्चात्य विद्वानों की नीति को हम किसी तरह स्वीकार नहीं कर सकते।

है कि इसके बहुत पहले से यह संवत् विक्रम के नाम से प्रसिद्ध हो चुका होगा। जैसे शक संवत् पुराने समय में केवल 'संवत्' लिखा जाता था और कालांतर में 'शक संवत्' लिखा जाने लगा वैसे ही यह संवत् भी पहले विक्रम के नाम से पहिचाना जाता होगा, पर लिखने में केवल 'संवत्' लिखा जाता होगा और जब से शक संवत्, गुप्त संवत् आदि अनेक संवतों ने अपने विशेष नामों के साथ प्रचार पाया होगा तब से इस मालव संवत् ने भी मालवा के प्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य का नाम अपने साथ ले लिया होगा।

जैन ग्रंथों में पहले पहल आचार्य देवसेन के 'दर्शनसार' ग्रंथ में संवत् के साथ विक्रम के नाम का उल्लेख हुआ दृष्टिगोचर होता है। दर्शनसार के कर्ता उक्त आचार्य विक्रम की १० वीं सदी में थे। इसके बाद ग्यार-हवीं सदी के जैन विद्वान् धनपाल की 'पाइअलच्छी नाममाला' में और आचार्य अमितगति के 'सुभाषित रत्नसंदोह' में विक्रम-संवत् का उपन्यास है और इसके बाद के समय में बने हुए ग्रंथों और लेखों में तो ज्यादातर विक्रम संवत् का ही दौरदौरा है, पर दसवीं सदी के पहले के किसी जैन ग्रंथ में इस संवत् के साथ विक्रम शब्द का उल्लेख हमारे देखने में नहीं आया।

बुद्ध का निर्वाण-समय आज से ही नहीं; हजारों वर्षों से संशयास्पद है, यह कहने की शायद ही जरूरत होगी।

चीनी यात्री फाहियान ने, जो ई० स० ४०० में यहाँ आया था, लिखा है कि "इस समय तक निर्वाण से १४९७ वर्ष व्यतीत हुए हैं।" *

इससे बुद्ध निर्वाण का समय ई० स० पूर्व १०९७ (१४९७—४०० = १०९७) के आस पास आता है।

प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएनत्संग, जो ई० स० ६३० में यहाँ आया था, अपनी भारतयात्रा के वर्णन में लिखता है—

"श्री बुद्धदेव ८० वर्ष तक जीवित रहे। उनके निर्वाण की तिथि के विषय में बहुत से मतभेद हैं। कोई वैशाख की पूर्णिमा को उनकी निर्वाण-तिथि मानता है। सर्वास्तिवादी कार्तिक पूर्णिमा को निर्वाण-तिथि मानते हैं। कोई कहते हैं कि निर्वाण-काल को १२ सौ वर्ष हो गए। किन्हीं का कथन है कि १५ सौ वर्ष बीत गए। कोई कहते हैं अभी निर्वाण-काल को ९०० वर्ष से कुछ अधिक हुए हैं।"*

इससे मालूम होता है कि हुएनत्संग के समय में बुद्ध निर्वाण-काल के विषय में कम से कम तीन तरह की मान्यताएँ थीं, किसी के मान्यतानुसार बुद्ध निर्वाण ई० स० पूर्व ५७० (१२००—६३० = ५७०) वर्ष पर आता था, किसी के विचार से ८७० वर्ष पर और किसी के मत से २७० वर्ष से कुछ ही अधिक समय पर।

बौद्धों के पालिग्रंथ अशोक के राज्याभिषेक से पूर्व २१८ वर्ष पर बुद्ध का निर्वाण होना प्रतिपादित करते हैं, तब दिव्यावदान प्रमुख उत्तरीय बौद्ध ग्रंथ अशोक के पहले १०० वर्ष पर ही बुद्ध का परिनिर्वाण हुआ बताते हैं। चीन के बौद्ध ई० स० पूर्व ६३८ में बुद्ध का निर्वाण होना मानते हैं, और सीलोन, ब्रह्मा और श्याम में बुद्ध-निर्वाण ई० स० से ५४४ वर्ष पूर्व हुआ माना जाता है और यही मान्यता आसाम के राज-गुरुओं की भी है।

* भारतीय प्राचीन लिपिमाला।

इन भिन्न भिन्न मतों के देखने पर यही कहना पड़ता है कि बौद्धों के दोनों संप्रदाय बुद्ध के निर्वाण-समय को बहुत पहले ही भूल चुके थे। पर, हाँ कहीं कहीं इस विषय की सत्य परंपरा भी मौजूद थी, कि जिसके आधार से बुद्धघोष ने महावंशोक्त निर्वाण-समय-गणना का समंतपासादिका में संशोधन करके निर्वाण-समय को ठीक किया है और, जहाँ तक मेरा विचार है, सीलोन ब्रह्मा आदि में जो आजकल बुद्ध-निर्वाण-समय माना जाता है वह बुद्धघोष का संशोधित समय ही है।

यह तो पूर्व काल और वर्तमान समय की बौद्ध परंपराओं की बातें हुईं, पर इतर विद्वानों का भी बुद्ध के निर्वाण-समय के विषय में एक मत नहीं है। जिन जिन ने इस विषय पर चर्चा की है, उनमें से अधिक संख्यक विद्वानों ने अपनी अपनी भिन्न राय ही कायम की है।

डा० बुल्हर की राय से बुद्ध का निर्वाण ई० स० पूर्व ४८३–२ और ४७२–१ के बीच में स्थिर होता है। प्रो० कर्न के मत से ई० स० पूर्व ३८८ में, फर्ग्युसन के विचार से ४८१ में, जनरल कनिंगहाम की सम्मति से ४७८ में, मेक्समूलर तथा मि० बैनरजी के कथनानुसार ४७७ में, पंडित भगवानलाल इंद्रजी के खयाल से ६३८ में, फ्लीट के अन्वेषणानुसार ४८२ में और डा० व्होलर तथा तुकाराम कृष्ण लाडू के निर्णयानुसार ४८३ में और वी० ए० स्मिथ के प्रथम शोध के अनुसार ५४३ में और पिछले शोध के अनुसार ई० स० ४८७ पूर्व महात्मा बुद्ध का परिनिर्वाण समय आता है।

इस प्रकार निर्वाण समय के विषय में कम से कम पंद्रह तरह की मान्यताओं की विद्यमानता में निश्चित रूप से यही मान लेना कि बुद्ध का निर्वाण ई० स० पूर्व ४७७ में ही हुआ था, हमारी समझ में केवल मनस्विता है।

भारतवर्षीय विद्वानों में महावीर निर्वाण-समय के संबंध में सबसे पहले और विवेचना-पूर्वक विचार करनेवाले श्री के० पी०

जायसवाल हैं। आपने 'पाटलिपुत्र' 'बिहार-ओरिसा पत्रिका' आदि हिंदी और अँगरेजी पत्रों में निर्वाण-विषयक अनेक लेख दिए हैं और अपनी यह राय स्थिर की है कि महावीर-निर्वाण ई० स० पूर्व ५२७ या ४६७ में नहीं वरन् ५४५ में हुआ था।

प्रस्तुत विषय में आपकी दलीलें ये हैं—

'शाक्य भूमि के शामगाम में रहे हुए बुद्ध ने ज्ञातपुत्र का पावा में मरण हुआ सुना। इस मतलब का जो अंगुत्तर निकाय में उल्लेख है वह प्रामाणिक है और इसके अनुसार महावीर का निर्वाण बुद्ध निर्वाण से पहले हुआ सिद्ध होता है।'

'जैन गणना में जो वीर निर्वाण और विक्रम संवत् के बीच में ४७० वर्ष का अंतर माना जाता है वह वस्तुतः सरस्वतीगच्छ की पट्टावली के लेखानुसार निर्वाण और विक्रमजन्म के बीच का अंतर है, विक्रम १८ वें वर्ष में राज्याभिषिक्त हुआ और उसी वर्ष में संवत् प्रचलित हुआ। इस प्रकार वीरनिर्वाण से (४७० + १८ =) ४८८ वर्ष पर विक्रम संवत्सर की प्रवृत्ति हुई, पर जैन-गणना में से उक्त १८ वर्ष छूट जाने से निर्वाण से ४७० वर्ष पर ही संवत्सर माना जाने लगा जो स्पष्ट भूल है।'

'ब्रह्मा और सीलोन आदि की दंतकथाओं के आधार पर बुद्ध-निर्वाण ई० स० ५४४ के पूर्व होना सिद्ध है, इसलिये वीरनिर्वाण भी इसके पहले ई० स० ५४४ पूर्व मानना युक्तिसंगत है।'

मि० जायसवाल की प्रथम दलील के उत्तर में हमें यहाँ कुछ भी लिखने की जरूरत नहीं है, क्योंकि इस बात का खुलासा हमने इसी लेख में "बुद्ध की जीवित अवस्था में ज्ञातपुत्र का कालधर्म-सूचक बौद्ध उल्लेख" इस हेडिंग के नीचे कर दिया है।

दूसरी दलील वीर और विक्रम के अंतर के विषय में है सो यह भी निर्वाण-समय के निर्णय में कुछ भी प्रकाश नहीं डाल सकती, क्योंकि प्राचीन जैन निर्वाण-गणना का संबंध शक संवत्सर के साथ है, न कि विक्रम संवत् के साथ। निर्वाण और शक का ६०५ वर्ष

का अंतर जो पुराने समय में था वही आज भी है, इसलिये इस विषय में शंका उठाने का कोई भी कारण नहीं है।

निर्वाण के बाद ४७० वर्ष में विक्रम का जन्म, ८ वर्ष तक बाल-क्रीड़ा, १६ वर्ष तक देश-भ्रमण, २५ वर्ष तक मिथ्या धर्मयुक्त राज्य और ४० वर्ष तक जैन-धर्मयुक्त राज्य करके विक्रम की स्वर्गगति बतानेवाली जो पट्टावली और विक्रम प्रबंध की गाथा[१०९] है वह बिलकुल नवीन और दंतकथा के ऊपर गढ़ी हुई है। ऐसी अप्रामाणिक नूतन गाथाओं के आधार पर चिर-प्रचलित व्यवस्थित गणना को अन्यथा ठहराना हम किसी तरह योग्य नहीं समझते।

हम देखते हैं कि श्वेतांबरों की तरह दिगंबर संप्रदाय में भी जब से विक्रम संवत् का प्रचार हुआ है, कई तरह की भूलें घुसनी शुरू हो गई थीं, कोई विक्रम के जन्म से संवत्सर प्रवृत्ति मानता था,[११०] कोई

---

१०९ श्रीयुत जायसवाल ने इस विषय में सरस्वती गच्छ की पट्टावली के जिस उल्लेख का निर्देश किया है वह इस प्रकार है—

"वीरात् ४९२ विक्रम जन्मांतर वर्ष २२, राज्यांत वर्ष ४।"

पट्टावली का यह लेख कितना अनिश्चित और आधुनिक है यह बताने की शायद ही जरूरत होगी।

प्रबंध की गाथाएँ भी बिलकुल अर्वाचीन और अशुद्ध हैं, इनका रचनाकाल शायद ही विक्रम की १६ वीं या १७ वीं सदी के पहले का हो।

पाठकगण के अवलोकनार्थ हम विक्रम प्रबंध की उन गाथाओं को नीचे अवतरित करते हैं; जिनमें विक्रम जीवन-काल को भिन्न भिन्न वर्षों में बाँटा है—

"सत्तर चउसद जुत्तो(त्ते), ति(जि)णकालेविक्कमो हवइ जम्मो।
अट्ठवरस बाललीला, सोडसवासेहि(साइं) भम्मए देसो(से)।
वरस पणवीसा रज्जं, कुणंति मिच्छोवदेससंजुत्तो।
चालीस वरस जिणवर-धम्मं पालिय सुरपहं लहियं॥"

(इन गाथाओं का तात्पर्यार्थ मूल लेख में आ गया है।)

११० टिप्पण नं० १०९ में उल्लिखित सरस्वती गच्छ की पट्टावली के आधुनिक उल्लेख से जाना जाता है कि शायद पट्टावलीकार के समय में किसी किसी की मान्यता विक्रम के जन्म से विक्रम संवत् मानने की होगी, पर इस विषय का कोई भी प्रामाणिक उल्लेख नहीं है।

विक्रम के राज्याभिषेक से संवत्सर का प्रारंभ गिनते थे,[१११] और कोई कोई विक्रम की मृत्यु से ही संवत् का प्रारंभ मानते थे।[११२]

---

१११ विक्रम के राज्याभिषेक से संवत्सर प्रवृत्ति मानने का दिगंबराचार्यों के किन किन ग्रंथों में विधान है इसका इस समय मेरे पास कोई खुलासा नहीं है, परंतु जहाँ तक मेरा खयाल है, जिन जिन आचार्यों ने अपने ग्रंथों में सामान्यतया विक्रम संवत् का उल्लेख किया है वे सब राज्याभिषेक से विक्रम संवत् माननेवाले होने चाहिएँ, क्योंकि यह एक सामान्य प्रथा है कि संवत्सर यदि किसी राजा के नाम का होता है तो वह उसके राज्याभिषेक वर्ष से ही शुरू हुआ माना जाता है और उसका निर्देश सामान्य होता है, पर जहाँ उसका अन्य घटना के साथ संबंध होता है वहाँ बहुधा उस घटना का भी साथ ही निर्देश किया जाता है, जैसे 'वीरनिर्वाण संवत्' तथा 'विक्रममृत्यु संवत्' का। यहाँ पर 'निर्वाण' और 'मृत्यु' घटना का निर्देश किया जाता है।

११२ विक्रम की मृत्यु से संवत्सर प्रवृत्ति माननेवाले आचार्यों में दिगंबर जैनाचार्य देवसेन सूरि का नाम खास उल्लेखनीय है। इन्होंने अपने 'दर्शनसार' नाम के ग्रंथ में जहाँ जहाँ ऐतिहासिक घटनाओं का निरूपण किया है वहाँ सर्वत्र विक्रम मृत्यु संवत् का ही उल्लेख है। पाठकों के अवलोकनार्थ हम यहाँ पर दर्शनसार की उन गाथाओं को उद्धृत करेंगे—

"राग सए छत्तीसे, विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
सोरट्ठे वलहीए, उप्पण्णो सेवडो संघो॥
पंचसये छव्वीसे, विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिणमहुराजादो, दाविडसंघो महामोहो॥
सत्तसये तेवण्णे, विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
नंदयडे वरगामे, कट्ठासंघो मुणेयव्वो॥"

पाठक-गण देखेंगे कि उक्त प्रत्येक गाथा के पूर्वार्ध में विक्रम मृत्युसंवत्सर का उल्लेख है।

इसके उपरांत आचार्य अमितगति ने अपने 'सुभाषित रत्नसंदोह' में और पं० वामदेव ने 'भावसंग्रह' में विक्रममृत्युसंवत् का उल्लेख किया है, जो नीचे के पद्यों से ज्ञात होगा—

"समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे,
सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पञ्चाशदधिके।
समाप्तं पञ्चम्यां भवति धरणीं मुञ्जनृपतौ,
सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम्॥"

—सुभाषितरत्नसंदोह।

अवश्य ही विक्रम संवत्सर के विषय में मतभेद था, पर कौन मान्यता ठीक थी और कौन गलत, इस बात की चर्चा करने की हमें कोई जरूरत नहीं है। हमारी गणना का मर्यादा-स्तंभ शक काल है और उसमें किसी प्रकार का मतभेद नहीं है।

मि० जायसवाल की इस मान्यता के साथ हम सहमत हैं कि बुद्ध निर्वाण का समय वही ठीक है, जो सीलोन, ब्रह्मा तथा श्याम के बौद्ध और आसाम के राजगुरु मानते हैं। पर हम यह नहीं मान सकते कि महावीर का निर्वाण बुद्ध-निर्वाण के पहले हो चुका था। हमारी राय में बुद्धनिर्वाण के उपरांत बहुत अर्से तक महावीर जीवित रहे थे। इस बात को हमने प्रारंभ में ही स्पष्ट कर दिया है, और हमारी इस गणना में कोई भी विरोध नहीं आता। बल्कि जैन सूत्रों और बौद्ध ग्रंथों का ठीक समन्वय भी हो जाता है जो कि पहले बताया जा चुका है।

वीर निर्वाण शक-पूर्व ६०६ (वर्तमान) और विक्रम पूर्व ४७१ (वर्तमान) वर्ष में हुआ[११२] इस हिसाब से ई० स० पूर्व ५२८

"सषट्त्रिंशे शतेऽब्दानां, मृते विक्रमराजनि।
सौराष्ट्रे वल्लभीपुर्यामभूत्तत्कथ्यते मया॥"

—वामदेवकृत भावसंग्रह।

११२ वर्तमान समय के जैन पञ्चाङ्गों में वीरनिर्वाण के गत वर्ष लिए जाते हैं, पर इस बात को समझनेवाला शायद ही कोई जैन विद्वान् होगा। इस समय विक्रम संवत् का १९८६ वाँ तथा शक का १८५१ वाँ वर्ष वर्तमान है, हमारे जैन पञ्चाङ्गों में यही वर्ष वीर निर्वाण संवत् का २४५५ वाँ वर्ष लिखा हुआ है। इसके संबंध में यदि आप कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा के पहले किसी जैन विद्वान् से यह पूछेंगे कि 'अब तक वीर निर्वाण को कितने वर्ष बीते?' तो तुरंत वह कह उठेगा कि 'निर्वाण को २४५४ वर्ष बीत चुके और ५५ वाँ चलता है,' पर यह वास्तविक उत्तर कोई भी नहीं देगा कि '२४५५ वर्ष बीत चुके और ५६ वाँ चलता है', इसका कारण स्पष्ट है, वर्तमान काल में जो जो संवत् प्रचलित हैं वे बहुधा वर्तमान वर्ष के सूचक हैं, इस कारण से वीर संवत् के संबंध में भी यही मान लेते हैं कि संवत् का अंतिम अंक वर्तमान वर्ष का बोधक है, पर यह कोई भी नहीं सोचता कि हमारे पंचाङ्गों में वीर संवत् के

(वर्तमान) वर्ष के अक्टोबर और नवंबर के बीच में वीरनिर्वाण का समय आता है।

महावीर निर्वाण के पहले १४ वर्ष और ५ 1/2 मास पर बुद्ध का परिनिर्वाण हुआ यह बात हम पहले लिख आए हैं, इस सिद्धांतानुसार बुद्ध का निर्वाण ई० स० पूर्व ५४२ (वर्तमान) वर्ष के मई मास में आएगा। सीलोन आदि के बौद्ध ई० स० पूर्व ५४४–३ में निर्वाण मानते हैं। इस मान्यता और हमारी जैन और बौद्ध गणना के बीच एक वर्ष का अंतर है जो कि विशेष महत्त्व नहीं रखता। यदि हम यह मान लें कि वैशाख महीने में बुद्ध ने महावीर के मरण की खबर सुनी और बाद में आगामी कार्तिक की सुदी ८ अथवा सुदी १५ को वे देहमुक्त हुए[११४] तो बुद्ध महावीर के निर्वाण का अंतर करीब १५ वर्ष का आयगा और इस प्रकार बुद्ध का निर्वाण-समय ई० स० पूर्व ५४३ में आयगा जो सीलोन आदि की परंपरा से प्राय: मिल जाता है।

आगे जो वर्षसूचक अंक समुदाय है वह गत वर्षों का बोधक है। वीर संवत् २४५५ का अर्थ यह नहीं है कि निर्वाण का चौबीसौ पचपनवां वर्ष चलता है। पर इसका अर्थ यही है कि निर्वाण को २४५५ वर्ष बीत चुके हैं और इसके ऊपर का (छप्पनवां) वर्ष चलता है।

हम उन जैन पंचांगप्रकाशक व्यक्तियों और संस्थाओं से अनुरोध करते हैं कि या तो वे अपने पंचांगों में यह स्पष्ट सूचना कर दिया करें कि ये निर्वाण के गत वर्ष हैं। यदि यह सूचना देना ठीक न समझें तो निर्वाणगत वर्षगणना में एक संख्या बढ़ाकर उसे वर्तमान वर्ष-सूचक बना लें ता कि निर्वाण-संवत् के विषय में १ वर्ष का जो भ्रम फैला हुआ है वह दूर हो जाय।

११४ पहले कहा गया है कि बुद्ध की निर्वाण-तिथि के संबंध में बौद्ध-संप्रदायों में अनेक मत थे जिनमें सर्वास्तिवादी बौद्ध संप्रदाय बुद्ध का निर्वाण कार्तिकी पूर्णिमा के दिन मानता था। संभव है, सीलोन, ब्रह्मा आदि देशों में जो ई० स० पूर्व ५४४—४३ वर्ष पर बुद्ध निर्वाण होने की मान्यता है वह इसी सर्वास्तिवादी संप्रदाय की निर्वाणतिथि-विषयक मान्यता को प्रमाण मानकर प्रचलित हुई होगी।

उपसंहार

महावीर निर्वाण संवत् के विषय में हमारा वक्तव्य यहाँ पूरा होता है। इस विषय के अन्वेषण में हमें अद्यावधि जो जो प्रमाण प्राप्त हुए और उनके आधार पर हमारा जो मत निश्चित हुआ उसकी रूपरेखा यहाँ बताई गई है।

जैन काल-गणना संबंधी सिर्फ उन्हीं बातों की हमने यहाँ चर्चा की है, जो हमारे प्रस्तुत विषय में खास उपयुक्त थीं। बाकी काल-गणना की चर्चा के लिये कोई खास मौका पसंद किया जायगा।

प्रारंभ से ही लेख को न बढ़ाने का हमारा संकल्प था इस सबब से अनेक बातें यहाँ संक्षेप में कही गई हैं, और अनेक उपयुक्त बातें टीका में लेनी पड़ीं अथवा छोड़ देनी पड़ी हैं। फिर भी लेख धारणा से जरा बढ़ गया है, जिसका कारण विषय की गहनता और विचारणीय बातों की प्रचुरता है।

अंत में एक निवेदन करना उपयुक्त समझता हूँ। वह यह कि जो जो महाशय इस विषय पर लिखना चाहें वे सब यथेच्छ लिखें, पर वह लेखन-प्रवृत्ति जिज्ञासा-जनित अथवा शोधक-बुद्धि-प्रयुक्त होनी चाहिए। क्योंकि जहाँ तहाँ नूतनता ढूँढ़ने की वृत्ति से अथवा केवल शौक पूरा करने के विचार से लिखने से न तो लेख की सार्थकता होती है और न लेखक के परिश्रम की सफलता।

आशा है, सहृदय विद्वान् मेरी इस नम्र प्रार्थना को अनुचित न समझेंगे।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अर्थात्

प्राचीन शोधसंबंधी त्रैमासिक पत्रिका

[नवीन संस्करण]

भाग १०—संवत् १९८६

संपादक

महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

लेख-सूची

सूचना

निम्नलिखित नई पुस्तकें छपकर प्रकाशित हो गई—

1. १—तर्कशास्त्र ३ भाग।
2. २—कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह।
3. ३—शिखर वंशोत्पत्ति।
4. ४—कीर्तिलता।
5. ५—अकबरी दरबार (दूसरा भाग)
6. ६—कर्मवाद और जन्मांतर
7. ७—हिंदी-साहित्य का इतिहास
8. ८—हिंदी-शब्दसागर

नवीन संस्करण

1. १—बालशिक्षा।
2. २—बालबोध।
3. ३—राज्यप्रबंध-शिक्षा।
4. ४—भक्त नामावली।
5. ५—हम्मीरहठ।

छप रही हैं

1. १—मुँहणोत नैणसी की ख्यात (दूसरा भाग)
2. २—बाँकीदास ग्रंथावली (दूसरा भाग)

प्रकाशन-मंत्री
नागरीप्रचारिणी सभा,
काशी